ग्रंथांक...338

घोरातिघोर पाप : निदान

(परमार्थ रहित सांसारिक स्वार्थ युक्त धर्म करना : निदान)

(गद्य-पद्यमय)

-आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

स्व. श्री एम.पी. गाँधी सेक्टर 11 उदयपुर (राजस्थान) स्वर्गवास-दि. 20.5.2020

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

श्री एम.पी. गाँधी द्वारा स्व. विद्यावती के पुण्य स्मरणार्थ जनवरी 2014 से 2019 तक 11,000/- रू. प्रतिवर्ष एवं जनवरी 2020 में 21000/- रू. दिया गया। भविष्य में आजीवन प्रतिवर्ष 21,000/-रू. देने की प्रतिज्ञा ली।

ग्रंथांक-338 संस्करण-प्रथम 2020

प्रतियाँ-500 मूल्य-51 रू.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री हेमन्त प्रकाश देवड़ा (महावीर)

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 94608-78187

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

विषयानुक्रमणिका

अ.सं.	विषय	पृ. स.
1.	आत्मन! तू निस्पृही निर्लिप्त बन	4
2.	शुद्धात्मा भाव ही स्वतंत्रता अन्य सभी पर परतंत्रता	5
3.	आदर्श अनुकरणीय अनादर्श त्यजनीय	6
4.	मेरी साधना के मंत्र (लक्ष्य)	7
5.	आत्मविज्ञानी ही निर्वाण पाता	17
6.	मेरा परम विकास हेतु	19
7.	परिग्रह की आत्मकथा	20
8.	दयालु आगमनिष्ठ गुरु की स्वपर उपकार प्रवृत्ति	21
9.	आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की निस्पृहता व सामाजिक/(लौकिक) कार्य न करने की प्रतिज्ञा!	24
10.	परमार्थ रहित सांसारिक स्वार्थ युक्त धर्म निदान!	25
11.	निदान आर्त्तध्यान	28
12.	मिथ्यात्व में बंध	59
13.	पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक	64
14.	निर्माल्य द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम	64
15.	पूजा-दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर	70
16.	पूजा-दानादि धर्मकार्यों में अन्तराय करने का फल	72
17.	वन्दना व स्वाध्याय आदि धर्मकार्यों में विघ्न डालने का फल	77
18.	अन्तराय कर्म का आस्रव	78
19.	पञ्चमकाल में विशुद्धि की हीनता (काल प्रभाव)	79
20.	कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य	82
21.	हेयोपादेय विचार से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है	87
22.	निजशुद्धात्मा श्रद्धान बिन समस्त धर्मकार्य व्यर्थ संसारवर्द्धक	88

23.	दान में अहिंसाधर्म पालता	89
24.	जो दान नहीं देता वह हिंसक	89
25.	दान भी अहिंसाव्रत	90
26.	मैं हूँ समता सर्वधर्म की माता	123
27.	समता परम धर्म	124
28.	निस्पृहताकारक अन्तरंग तप करूँ	125
29.	कलिकाल की महिमा	133
30.	कलियुग की अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ	134
31.	आध्यात्मिक साधनारत संत की कलिकाल के आदर्श	135
32.	स्वशुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारम्भ	135
33.	देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से स्वशुद्धात्मा का श्रद्धान है : सम्यग्दर्शन	137
34.	आत्मोपलब्धि हेतु	139
35.	पशु-पक्षी-देव-नारकी-नर-नारी भी होते हैं जैन (सम्यग्दृष्टि...)	139
36.	निदान से दुर्गति (दुष्टान्त)	140
37.	आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की निस्पृहता व सामाजिक/ (लौकिक) कार्य न करने की प्रतिज्ञा !	144
38.	गुणीगुरु से सुयोग्य शिष्य होते स्वयमेव प्रेरित	146
39.	ध्यानी मुनि हेतु परम कर्त्तव्य...	147
40.	निस्पृह सन्त की साधना V/s मोही सन्त की प्रभावना	149
41.	एकाग्रचित से लौकिक से आध्यात्मिक उपलब्धि	150
42.	स्व-शक्ति के ध्यान से अनन्तशक्ति पाऊँ	152
43.	आकिंचन्य से त्रैलोक्यधिपति बनूँ	153
44.	मोक्ष लक्ष्य ही परमलक्ष्य अन्य सभी ही आकांक्षायें	156
45.	निदान आर्त्तध्यान (सब से निकृष्ट अशुभ...)	158
46.	सुधर्म V/s कुधर्म	160

आत्मन्! तू निस्पृही निर्लिप्त बन

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. मन रे! तू काहे... 2. सायोनारा....)

आत्मन् (कनक) तू निस्पृही-निर्लिप्त बन,
कमल सम संसार मध्य में, संसार से निर्लिप्त बन। (स्थायी)
जलमल में उत्पन्न होकर भी, मल से निर्लिप्त कमल,
तथाहि तू संसार मल से, रहो सदा निर्मल।
तू हो! अनादि अनिधन आत्मा स्वयंभू स्वयंपूर्ण...आत्मन्।। (1)
अनन्तज्ञानदर्शन सुख वीर्य मय, आनन्द से परिपूर्ण।
स्वस्वरूप को प्राप्त करने हेतु, होना होगा तुझे निर्लिप्त।।
संसार शरीर भोगी उपभोग से होना होगा तुझे विमुक्त...आत्मन्।। (2)
तथाहि ख्यातिपूजा लाभ प्रसिद्धि तथाहि स्वामीत्व वर्चस्व।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश द्वन्द्व से, होना होगा तुझे विमुक्त।।
इस हेतु तुझे त्यागना होगा, रागद्वेषमोह काम क्रोध...आत्मन्।। (3)
दीन हीन अहं ईर्ष्या तृष्णा घृणा, त्यागना होगा विद्वेष।
पर प्रपंच पर प्रतिस्पर्द्धा, पर-अन्धानुकरण विभाव।
त्यागना होगा तुझे धन जन, मान सम्मान वैर-विरोध...आत्मन्।। (4)
इस से परे तुझे करना होगा, स्वआत्मा का ही आलम्बन।
स्वाधीन स्वतंत्र आत्मानुशासी, ध्यान अध्ययन में लीन।
कौन क्या करता कौन क्या कहता, त्यागकर करो स्व में ही निवास...आत्मन्।। (5)
तू ही तेरा कर्त्ता धर्त्ता भोक्ता, बनो जिससे पाओगे स्वसुख।
इस से तू सच्चिदानन्द बनोगे, बनोगे सत्य शिव सुन्दर।
अक्षय अनन्त आत्म वैभव पाओगे, इस हेतु 'कनक' बनो प्रयत्नशील...आत्मन्।। (6)

ग.पु. कॉ. 13-6-2020 प्रातः 7.58

शुद्धात्मा भाव ही स्वतंत्रता अन्य सभी परतंत्रता

(मैं हूँ शुद्धनय से स्वशुद्धभाव का कर्त्ता-भोक्ता अतः अन्य सभी मेरी परतंत्रता)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. मन रे! तू काहे... 2. सायोनारा....)

आत्मन्! तू स्वशुद्ध भाव का कर्त्ता...
इस का ही तू भोक्ता-विधाता, अन्य सभी ही 'तेरी' परतंत्रता...(ध्रुव)
व्यवहार से पुद्गलकर्म का कर्त्ता, तथाहि उस के फल का भोक्ता...
निश्चय से तू चेतनकर्म का कर्त्ता, तथाहि उसका फल भोक्ता....
शुद्धनय से शुद्धात्मा भाव कर्त्ता/(भोक्ता)...(1)
अनादिकालीन पुद्गल कर्मोदय से, उत्पन्न होते रागद्वेषमोह विभाव...
उसके अनुसार परिणमन से, होते पुनः पुद्गल कर्मास्रव...
उसके फल से मिले संसार भ्रमण...(2)
चतुर्गति चौरासीलक्ष योनियों में, मिले जन्म-मरण व दुःख दैन्य...
उसे दूर हेतु होते नानाविध यत्न, आरंभ उद्योग परिग्रह भोगोपभोग...
इसे ही जीव माने स्वकर्त्तव्य/(स्वपुरुषार्थ)...(3)
इससे परे करो शुद्धात्मा प्राप्ति हेतु, आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र...
निर्मल, निष्कम्प, निर्मोही, निर्द्वन्द्व, निस्पृह, वीतरागी, शुद्धबुद्ध...
ये ही तेरे स्वशुद्धात्माभाव...(4)
इससे ही तुझे मिलेंगे स्ववैभव, अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्य...
अक्षय, अव्यय, अव्याबाध, वैभव, इस के ही हो! तू कर्त्ता-भोक्ता...
यह ही तेरी परम शुद्ध अवस्था...(5)
यह ही तेरा परमलक्ष्य व धर्म, कर्त्तव्य, अधिकार व पुरुषार्थ...
साध्य-साधन, साधना-आराधना, स्वतंत्र स्वाधीन परम स्वार्थ...
शुद्धबुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप...(6)
इस के अतिरिक्त सभी पर विभाव, परतंत्र, पराधीन, पराश्रित...
सांसारिक सभी वैभव है बन्धन, अतएव सभी से बनो विरक्त...
आत्मन्! तू 'कनक' तू तो चैतन्य...(7)

ग.पु.कॉ. दि. 17-6-2020, रात्रि 8.54

आदर्श अनुकरणीय अनादर्श त्यजनीय

(आदर्श अनुकरण से विकास तो अनादर्श अनुकरण है अन्धानुकरण से ले विनाश)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-कहाँ गए चक्री...)

आदर्श पुरुषों का आदर्श अनुकरणीय योग्य,
नवकोटि से आदर्श को ग्रहण करने योग्य।
अनादर्श से अनुकरण नवकोटि से न योग्य,
आदर्श अनुकरण धर्म तो अनादर्श अधर्म।। (1)

पूजा, आरती, वन्दना, तीर्थयात्रा या स्तुति,
''वन्देतद्गुणलब्धये'' हेतु ही होती है प्रवृत्ति।
इससे होता भाव पावन होता पुण्यबन्ध,
जिससे होता विकास व मिले स्वर्ग-मोक्ष।। (2)

हजारों वाक्य से श्रेष्ठ है आदर्श जीवन,
आदर्श जीवन से मिले प्रायोगिक ज्ञान।
''महाजन येन गता स पन्था'' होता है आदर्श,
''तरण-तारण'' ''स्पपरप्रकाशी'' होते हैं सुजन।। (3)

इससे विपरीत होता है दुर्जन अनुकरण,
उनका अनुकरण होता है अन्धानुकरण।।
''लोकानुगतिक लोकः न लोकः परमार्थिकः'' उक्त,
भेड़-भेड़िया चाल सम होता है विध्वंसक।। (4)

इससे न होता बौद्धिक से ले आत्मिक विकास,
स्वतंत्र मौलिक व्यापक न होता विकास।
रिमोट कंट्रोल से परिचालित यंत्र के सम,
कोल्हू के बैल सम बन्धन (गुलामी) में ही परिभ्रमण।। (5)

अमूढ़दृष्टि या परीक्षा प्रधानी होते हैं सज्जन,

हंस व गाय समान करते वे भाव व काम।
जोंक, मच्छर, बगुला समान वे न करते काम,
''गुणगणग्रहण'' व होते ''दोषवादे च मौनम्''।। (6)

भय-आशा-स्नेह-लोभ से न करते अन्धानुकरण,
अन्धे से भी महा अन्धा होते जो करते अन्धानुकरण।
आत्मविश्वासज्ञानचारित्र युक्त होता है सुधर्म,
अन्धविश्वासज्ञानचारित्र युक्त होता है कुधर्म।। (7)

अन्धानुकरण करने वाले (होते) प्रायः अधिसंख्य लोक,
धर्म दर्शन समाज कानून राजनीति के लोक।
श्रद्धा-प्रज्ञा से सत्य-तथ्य-हित-पथ्य ग्राह्य,
सर्वांगीण विकास हेतु 'कनक' माने आदर्श।। (8)

मेरी साधना के मंत्र (लक्ष्य)

(स्वज्ञाता-दृष्टा, कर्त्ता-भोक्ता मैं ही मेरा (निश्चय-व्यवहार से भी)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. क्या मिलिए... 2. देहाची तिजोरी...)

मैं हूँ ज्ञाता मैं हूँ दृष्टा, अन्य का नहीं हूँ कर्त्ता-भोक्ता।
मेरा ही कर्त्ता मेरा ही भोक्ता, शुभाशुभ शुद्ध का कर्त्ता-भोक्ता।।
मेरे सुख का मैं हूँ भोक्ता, निश्चय से अनन्त सुख भोक्ता।
व्यवहार से शुभाशुभ का कर्त्ता, अतः उसके फल सुख-दुःख का भोक्ता।।(1)

निश्चय से सभी मुझ में मेरा, व्यवहार से तथा आंशिक होता।
कर्म संयोग से आंशिक होता, तथापि सुखःदुःख मैं ही भोगता।।
शरीर मन व इन्द्रिय द्वारा, जो होता भोग वह चेतना द्वारा।
चेतना ही तो मेरा निज स्वरूप, तन मन इन्द्रिय तो संयोग रूप।।(2)

देखता मैं हूँ मेरी चेतना द्वारा, छद्मस्थ दशा में आँखों के द्वारा।
किन्तु निश्चय से न देखती आँखे, गवाक्ष/(चश्मा) से देखना न गवाक्ष/(चश्मा) देखे
तथाहि अन्य इन्द्रियाँ एवं मन, मेरे कारण से वे होते प्रवृत्त।

शव में ये सभी न होते प्रवृत्त, चेतना अभाव से शव अचित्त।।(3)
मेरा सभी मुझ में होते संभव, व्यवहार से ले निश्चय तक।
निगोद से ले सिद्ध पर्यन्त, मेरे बिना ये मेरे नहीं संभव।।
व्यवहार से भी अतः मेरा मैं कर्त्ता, तथाहि व्यवहार से मैं ही भोक्ता।
कर्त्ता भोक्ता अन्य का मोह न करूँ, उस से जायमान पाप न बान्धु।।(4)
दूर से अग्नि देखने मात्र से, आँख न जलती है दूर होने से।
तथाहि व्यवहार से ऐसा मैं बनूँ, इस हेतु समता की साधना करूँ।।
इस से बचता हूँ अनेक दोषों से, रागद्वेषमोह ईर्ष्या घृणा से।
आकर्षण विकर्षण क्लेश द्वन्द्व से, समय शक्ति बुद्धि के अपव्यय से।।(5)
इस से बचता हूँ पापबन्ध से, सदुपयोग करूँ ध्यान-अध्ययन से।
मनन चिन्तन व शोध-बोध में, लेखन-अध्यापन-प्रभावना में।।
यह धर्म-ध्यान, अनासक्ति, योग, समता, साधना या समत्वयोग।
सुनियोजित लापरवाही काम, आध्यात्मिक विकास हेतु निस्पृह काम।।(6)
इस से बढ़ रही मेरी ऋद्धा-प्रज्ञा, कार्य क्षमता से ले विवेक प्रज्ञा।
समता शान्ति आत्म विशुद्धि शक्ति, बढ़ रही उत्तरोत्तर वीतरागता।।
इसे बढ़ाता जाऊँ अनन्त तक, अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य तक।
यह मेरा परम लक्ष्य व प्राप्य, इस हेतु 'सूरी कनक' साधनारत।।(7)
''सोऽहं'' से जानूँ मैं सिद्ध समान, 'अहं' से करूँ 'मैं' स्व का ज्ञान।
''तत्वमेसि'' है मेरा अनुसन्धान, ''अहं ब्रह्म'' मेरा स्वानुभव ज्ञान।।
अतएव मैं हूँ मेरा विश्व स्वरूप, पंचपरिवर्तन में मैं हूँ स्थित।
मार्गणा, गुणस्थान मेरे ही रूप, संसार मोक्ष में मैं ही स्थित।।(8)
अनन्त गुण पर्यायों में ही स्थित, अनन्त वैभव मेरे मुझ से प्राप्त।
मेरा विश्व रूप मुझ से जात, स्वकर्त्ता, भोक्ता, विधाता धाता।
स्वयंभू, स्वयंपूर्ण, सनातन सत्य, स्वयं में ही स्वयं द्वारा स्वयं में स्थित।
कुज्ञानी-मोही द्वारा अज्ञात सत्य, ''सत्य शिव सुन्दर'', ''सच्चिदानन्द''।।(10)
कर्त्ता, कर्म, करण से सम्बन्ध तक, अभिन्नषट्कारक मुझ में स्थित।
यथा पानी-बर्फ-वाष्प में जल स्थित, भले बाह्य निमित्त पृथक् पृथक्।।

सोने के अलंकारों में सोना ही स्थित, काष्ठ के उपकरणों में काष्ठ ही स्थित।
लवण के हर कण में लवण स्थित, शुभाशुभशुद्ध में मैं ही स्थित।।(10)
मेरे बिना मेरे कुछ नही संभव, शुभाशुभशुद्ध भी नहीं संभव।
सांसारिक सुख-दुःख तथा ज्ञानानन्द, मेरे बिना असंभव मेरा अनुभव।।
मैं हूँ अतएव मैं अनुभव करूँ, अनुभव करूँ अतः मेरा अस्तित्व।
साधना करूँ भी स्वात्मोलब्धि हेतु, मेरे अस्तित्व बिना ये न संभव।।(11)

ग.पु. कॉ. 21-6-2020, रात्रि 11.14

संदर्भ-

आत्मस्वभावी केवल दर्शन, केवल ज्ञान, शुद्धोपयोग है।

अशुद्धोपयोग 2 भेद रूप है। शुभ उपयोग एवं अशुभ उपयोग।

जहाँ शुभ उपयोग, शुभ भाव विकल्प है वहाँ शुभ ध्यान होता है। जहाँ अशुभ दर्शन ज्ञान उपयोग रूप, अशुभ विकल्प है वहाँ अशुभ (आर्त्तरौद्र) ध्यान होते हैं। शुद्ध उपयोग, आस्रव रहित है। अशुद्ध, शुभ एवं अशुभ उपयोग कर्मास्रव विकल्प सहित है।

जिनदेव कथन है कि प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय शुक्ल ध्यान भेद सहित हैं परन्तु चतुर्थ व्युपरत क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान आस्रव रहित है। यही संक्षिप्त रूप कथन है।

अशरीरी भगवान् का स्वरूप

मुक्त सिद्ध अवस्था का स्वरूप लक्षण

णट्ठट्ठपयडिबंधो चरमसरीरेण होइ किंयूणो।
उद्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ।।(687)
लोयग्गसहिरखित्तं जावं तणुपवणउपरिमं भायं।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थित्तेण आयासो।(688)
तत्तो परं ण गच्छइ अच्छइ कालं तु अंतपरिहीणं।
जम्हा अलोयखित्तं धमद्दत्वं ण तं अत्थि।।(689)

अर्थ- चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव, आठों प्रकार की कर्म प्रकृतियों को नष्ट

कर, प्राप्त अन्तिम औदारिक शरीर आकार से कुछ कम आकार रूप, अशरीरी आत्मा एक समय मात्र में, ऊर्ध्वगमन करके, लोक(आकाश) के ऊपरी स्थान पर तनुवातवलय के ऊपरी भाग पर (जहाँ तक कि गतिशीलता रूप धर्म द्रव्य है) सिद्धशिला को प्राप्त होकर सिद्धशिला पर अवस्थित हो जाते हैं।

अलोकाकाश (स्पेस) में धर्मद्रव्य (गतिशीलता) नहीं होने के कारण, मुक्त सिद्ध जीव (धर्म द्रव्य से स्थित) लोकाकाश के बाहर नहीं जाते और लोकाकाश के कथित ऊपरी शिखर पर आगे अन्तरहित अनन्तकाल तक के लिए स्थिर हो जाते हैं।

कर्त्ता-भोक्ता आदि आत्मा के अनेक गुण

इत्याद्यनेक धर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयोः फलम्।
आत्मा स्वीकुरुते तत्, तत् कारणेः स्वयमेव तु।।(9)
कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एवं तु।
बहिरन्तरूपायाभ्यां, तेषा मुक्तत्वमेव हि।।(10)
पद्य भावानुवादः (चाल : आत्मशक्ति...)
इत्यादि अनेक धर्मवाला आत्मा बन्ध-मोक्ष व तत्फल।
स्वयमेव आत्मा स्वीकारता है, अतएव आत्मा उसके कारण।।(9)
अन्तरंग बहिरंग कारणों से, कर्मों के कर्त्ता व भोक्ता आत्मा।
अन्तरंग-बहिरंग कारणों से, कर्मों से मुक्त होता स्वयं आत्मा।।(10)

कर्त्ता के विभिन्न रूप

पुग्गलकम्मदीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्ध भावाणं।।(8) द्र.सं.

According to Vyavhara Naya is the doer performer of the Pudgala Karmas. According to Nischaya Naya (Jiva is the doer performer of) Thought Karmas. According to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas.

आत्मा-व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का

कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

इस गाथा में जीव के विभिन्न कर्तृत्वभावों का वर्णन किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से ''स्वतंत्र कर्त्ता'' अर्थात् जो कर्म को स्वतंत्र रूप से करता है उसे कर्त्ता कहते हैं। जीव भी विभिन्न अवस्था में विभिन्न कर्मों का कर्त्ता बनता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिण्ड रूप नो/ईषत् कर्म है उसका कर्त्ता है। स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घट, पट, कुर्सी, टेबल, घर, चटाई, विभिन्न वैज्ञानिक उपकरण, ईंट, मूर्ति आदि का भी जीव कर्त्ता है। निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय से जीव चेतन कर्म अर्थात् मिथ्यात्व भाव, ईर्ष्या भाव, घृणा, द्वेष, लोभ प्रवृत्ति, अहं प्रवृत्ति का कर्त्ता है परन्तु परम शुद्ध निश्चय से नय से जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, सच्चिदानंद स्वरूप स्वभाव में परिमणन करता है तब अनंत ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुखादि भावों का कर्त्ता होता है। छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से स्वभाव का कर्त्ता भी होता है परन्तु केवली एवं मुक्त अवस्था में तो शुद्ध निश्चय नय से पूर्णरूप से अनंत ज्ञानादि भावों का कर्त्ता होता है। वस्तुतः यहाँ जो आध्यात्मिक दृष्टि है उसकी अपेक्षा अशुभ, शुभ, शुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसी का कर्तृत्वपना यहाँ कहा गया है, न कि हस्तपादादि से जो कार्य किया जाता है उसे यहाँ कर्त्तापने में स्वीकार किया गया है और एक विशेष आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जो शुद्ध भावों का कर्त्ता कहा गया है उसका अर्थ यह है कि उन शुद्ध भावों का जीव वेदन करता है न कि उन शुद्ध भावों का निर्माण करता है या बनाता है। प्राचीन आचार्यों ने भी जीव के विभिन्न कर्त्तापने का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यथा-

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमदि।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदे।।गा.(18) समयसार

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिमणन करते हैं। इसी प्रकार दैव(कर्म) को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष परम पुरुषार्थ से हीन

पुरुषार्थ है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो परिणमदि सो अणेय विहं।
मंसवसारूहिरादिभावे उदराग्गे संजुत्तो।।

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

भावो कम्म णिमित्तो कम्मं पुण भाव कारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं।। गा. (60) पंचास्तिकाय

निर्मल चैतन्यमई ज्योति स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मो के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्मा स्वभाव है, उससे उल्टे जो हृदय में प्राप्त है, उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्त्व है, उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म है सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्त से बँधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव संबंधी रागादिभावों का और द्रव्यकर्मों का परस्पर उपादान कर्त्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादानकर्त्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान से यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से विचार किए जाने पर जीव रागादि भावों का कर्त्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मिलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामे।। (121) प्रवचन सार

''संसार'' नामक जो यह आत्मा का तथाविध उस प्रकार का परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का बंध हेतु है, अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? इसके उत्तर में कहते हैं कि द्रव्यकर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता से ही वह बंध है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आएगा क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ संबंद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से द्रव्य कर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से है।

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदे।।(86)
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि।।(87)

यद्यपि जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिमणन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सकेण भावेण।
पुग्गल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।(88) समयसार

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहार नय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु, द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं परन्तु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य का कर्त्ता नहीं होने से जीव के परिणाम का हेतु पुद्गल नहीं है एवं पुद्गल के परिणाम का हेतु जीव नहीं हैं। पंचास्तिकाय में कहा है-

''निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वाकर्मणो
जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम्।।''

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के अपने-

अपने रूप के कर्त्ता हैं। निश्चय से जीव, पुद्गल का कर्त्ता नहीं होने पर भी व्यवहार नय से कर्त्ता है।

यदि एकान्ततः निश्चयनय के समान व्यवहारनय से भी जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है तब अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जायेंगे। व्यवहार से भी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं होने पर कर्मबंधन नही होगा, कर्मबंध के अभाव से संसार का अभाव हो जाएगा। संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा, जो कि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एवं अनुभव विरुद्ध है। निश्चयनय का विषय व्यवहार से संयोजना करके शिष्य, गुरुवर्य कुन्दकुन्दाचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न करता है।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं।। गा.(63) पंचास्तिकाय

आगे पूर्वोक्त प्रकार के अभेद छह कारक का व्याख्यान करते हुए निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है। इसे सुनकर 'नयों' के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकांत का ग्रहण करके पूर्व पक्ष करता है।

यदि द्रव्यकर्म एकांत से बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है - द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा उस बिना किए हुए कर्म के फल को भोगता है और यह जीव से बिना किया हुआ कर्म आत्मा को फल कैसे देता है? इस प्रश्न का आगमोक्त यथार्थ प्रत्युत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं-

''निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुद्ध्यत इत्यत्रोक्तम्।''

जीव पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढ़गहणपडिबद्धा।
काले विभुञ्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजन्ति।।(67)

आगे शिष्य ने जो पूर्वपक्ष किया था कि बिना किए हुए कर्मों का फल जीव किस तरह भोगता है उसी का उत्तर नय विभाग से जीव फल को भोगता है ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं।

संसारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्निग्ध-रुक्ष गुण के कारण द्रव्य-कर्मवर्गणायें जीव के प्रदेशों में जो पहले से ही

बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूरे होते हुए उदय में आती हैं तब अपने अपने फल को प्रगट कर झड़ जाती है, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले सुख तथा दुःख उन जीवों को मुख्यतया से देती है, जो मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमयी एकस्वरूपभाव जीव को और मिथ्यात्व रागादि भावों को एक रूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव रागद्वेष-मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि के परिमणन करते हुए जीव अभ्यंतर में अशुद्ध निश्चय से ही हर्ष या विषाद रूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों के प्राप्ति रूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादन रूप सांसारिक सुख या दुःख की वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत के रसास्वाद के भोग को न पाते हुए भोगते हैं, ऐसा अभिप्राय जानना।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो।।(69)

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्त्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति अस्त हो गई है, इसलिए यह सान्त अथवा अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

जं जं जे जे जीव पज्जाणं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा।(988)

संसार में जो जो जीव जिस जिस पर्याय में परिणमन करते हैं वे सब रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं, ऐसा जानना।

भोक्ता के विभिन्न रूप

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।। (9)द्र.सं.

According to Vyavahara Naya, Jiva enjoys happiness and misery as fruits of Pudgala Karmas, According to Nischaya Naya, Jiva has conscious Bhavas only.

आत्मा व्यवहार से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। न्यूटन के तृतीय गति सिद्धांतानुसार -

To every action, there is an equal and opposite reaction.

अर्थात् जहाँ क्रिया है, वहाँ पर उसकी प्रतिक्रिया भी होती है एवं प्रतिक्रिया उस क्रिया की विपरीत समानुपाती क्रिया होती है। जो जैसा करता है, वह उसी प्रकार उसका भोक्ता भी होता है। जैसे बबूल के वृक्ष बोने पर बबूल का वृक्ष उत्पन्न होगा और उसमें बबूल की ही फलियाँ लगेंगी, आम के बीज बोने पर आम के वृक्ष ऊगेंगे एवं उसमें आम के फल लगेंगे। इसलिए कहते हैं "As you sow, sow you reap" अर्थात् जैसा बोयेंगे वैसा काटेंगे व पायेंगे। आत्मानुशासन में गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृतां कर्माशुभं व शुभं।
यद्दैव यदुदीरणादनुभवन् दुःख सुख वागतम्।।

जीव ने पूर्व भव में जिस अशुभ भाव रूप कर्त्तापने से पाप कर्म का एवं शुभभावरूप कर्त्तापने से पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव है उसकी उदीरणा उदय से यथाक्रम से दुःख एवं सुख का अनुभव करता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है-

कर्म प्रधान विश्व करिराखा। जो जस करहि फलहि तस चाखा।।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्मं निरर्थकं तदा।।(30)

पहले जो जीव पुण्य एवं पाप कर्म करता है उसका ही फल शुभ एवं अशुभ रूप से प्राप्त करता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा किए गए शुभ एवं अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो स्वयं किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाएगा।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्याऽपि ददापि किंचन्।
विचार यन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।।(31)

अपने उपार्जित कर्म छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन्! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड़।

जीव उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट तथा अनिष्ट पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख एवं दुःख को भोगता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अंतरंग में सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला द्रव्य कर्म रूप पुण्य एवं पाप का उदय है उसको भोगता है। अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष तथा विषाद रूप सुख-दुःख को भोगता है और शुद्ध निश्चयनय से रत्नत्रय से उत्पन्न अविनाशी अतीन्द्रिय अक्षय आनंद रूप सुखामृत को भोगता है।

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता

(आत्मा को ही अपना मानने वाला ही आत्मज्ञानी)

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुं तहु संसार भमेहि।।(12) यो.सा.

अन्वयार्थ- (जई) यदि (अप्पा अप्पउ मुणहि) आत्मा को आत्मा समझेगा (तउ णिव्वाण लहेहि) तो निर्वाण को पावेगा (जउ) यदि (पर अप्पा मुणहि) पर पदार्थों को आत्मा मानेगा। (तहु तुहुं संसार भमेहि) तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

पद्य- आत्मा को ही जो आत्मा माने, वे ही निर्वाण को पाते।
पर को जो आत्मा माने है, तो तू संसार में भ्रमण करे।।

समीक्षा- स्व को ही स्व पर को ही पर मानना होता सम्यक्त्व व सही ज्ञान।
यही भेद विज्ञान या वीतराग ज्ञान, अन्यथा मिथ्यात्व व कुज्ञान।।
इस हेतु ही देव शास्त्र गुरु श्रद्धान, ध्यान अध्ययन व तप त्याग।
इससे होता आत्मा का क्रम विकास, गुणस्थान आरोहण से मिले निर्वाण।।
अन्यथा होता मिथ्या श्रद्धान ज्ञान, जिससे श्रावक साधु धर्म होता कुधर्म।
तप त्याग संयमादि होते हैं मिथ्या, जिससे संसार में होता भ्रमण।।

सन्दर्भ- हे अन्तरात्मन्! तुमने अनन्त दुःख के कारण मूलभूत बहिरात्मपना को त्यागकर परमात्मपना के साधकस्वरूप परम पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, समतारूप, सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य-रत्नत्रय दस धर्म के जीवन्त/प्रायोगिक रूप जो साधु को प्राप्त किया है उसमें मनसा-वचसा-कर्मणा एकनिष्ठ होकर समस्त कल्याण के मूलभूत आत्मकल्याण में सतत, समग्रता से प्रयत्न करो क्योंकि ये ही एक कार्य है जो कि तुमने अनन्त काल से अनन्त जन्म में भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त और समस्त कार्य यथा-जन्म, मरण, भोग-उपभोग, शत्रुता, मित्रता, युद्ध-कलह, मान-अपमान, मरन-मारना, सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि-बुद्धि, वैभव, राज-पाट, अमीरी-गरीबी, रोग-शोक, भय-उद्वेग, क्लेश-संक्लेश, तनाव-उदास, आदि समस्त कार्य अवस्थाओं को तुमने किया, करवाया, अनुभव किया है। इन सब कार्यों से तुमने अनन्तज दुःख भी भोगे हैं अतएव हे सुखेच्छु, संवेग-वैराग्य युक्त आत्मन्! अभी तो कम से कम एक बार भी स्वयं के लिए मरकर भी देखो कि स्वयं के लिए मरण से तुम कैसे अमृत बन जाते हो, अजर-अमर, शाश्वितक, ''सच्चिदानंद'' ''सत्यं शिवं सुदरम्'' बन जाते हो। यथाः-**अयि कथमपि मृत्वा तत्वाकौतूहली सन् अनुभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्। पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।। (अमृत कलश)**

हे शान्ति के इच्छुक आत्मन्! तत्त्व कौतुहल आदि किसी भी प्रकार से मरकर भी स्व-विज्ञानघनस्वरूप आत्म तत्त्व को मोह, माया, शोक-दुःख से मुहूर्तमात्र के लिए अलग अनुभव करो और जब ऐसा अनुभव करो तो तत्काल स्वशुद्धात्मा से भिन्न भौतिक/अनात्म/विकारभूत मोहादि को हठात् त्याग कर दो। इससे तुम निर्मल/पवित्र आनन्द घनस्वरूप हो जाओगे।

विरम किमपरेणकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलदिभन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भायाति किं चोपलब्धि।।

हे आत्मन्! संसार के अकार्य कोलाहल से विराम लो। स्वयं ही समस्त संकल्प-विकल्पों से अवकाश प्राप्त करके स्व-आत्मस्वरूप का अवलोकन/अनुभव करो। तब स्वयं को अनुभव हो जाएगा कि तुम्हारा चैतन्य शुद्ध-स्वरूप समस्त भौतिक स्वरूप से भिन्न है या नहीं? अर्थात् निश्चय से भिन्न है।

अतएव हे आत्मन्! आत्मविश्वास, आत्मज्ञान, आत्म अनुसंधान, आत्म परीक्षण-निरीक्षण, आत्मविश्लेषण, आत्मानुचरण से ही स्वात्मोपलब्धि रूप सुख-शान्ति, संवर, निर्जरा, मोक्ष प्राप्त किया जाता है। अन्य सब धार्मिक क्रिया-काण्ड, व्रत-नियम-उपनियम, तप-त्याग, परीषह-उपसर्ग सहन, पूजा-पाठ, जप-तप, मंत्र-ध्यान आदि इसके लिए साधन/निमित्त/कारण/उपाय हैं।

हे साधकात्मन्! तुम्हारा निज आत्म वैभव अक्षय अनन्त है। वर्तमान पंचमकाल के समस्त देश-विदेश के सामान्य जन से लेकर उद्योगपति, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, वैज्ञानिक, साधु-संत के वैभव सीमित हैं, क्षायोपशमिक, कर्म सापेक्ष हैं। अतएव आत्म वैभव की अपेक्षा वर्तमान के स्व-पर के वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं/हेय हैं, इसलिए वर्तमान के स्व-पर वैभव से न राग करो, न ईर्ष्या करो, न अहंभाव करो, न दीनभाव करो। जो कुछ तुम्हारी वर्तमान की उपलब्धि है उसका सतत सदुपयोग निज आत्म वैभव की उपलब्धि के लिए ही करो।

मेरा परम विकास हेतु

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. तेरे प्यार का आसरा... 2. देहाची तिजोरी...)

परमविकास मैं करना चाहता हूँ, श्रमण से भगवान् बनना चाहता हूँ।
निगोद से मानव तक आया हूँ, आध्यात्मिक विकास पूर्ण चाहता हूँ।।
अनन्त बार किया हूँ मानव तक, पंचपरिवर्तन किया अनन्त तक।
मार्गणास्थान में किया विकास, गुणस्थान में परम न हुआ अभी तक।। (1)
नर नारकी तिर्यंच देव भी बना, राजा महाराजा सेठ साहुकार बना।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व, भोगोपभोग किया हूँ स्वर्ग तक।।
यह होता है शरीर से मन तक, आत्मिक विकास बिना पुनः पतन।
भौतिक विज्ञान यहाँ तक जाने, आत्मिक विकास को अभी तक न जाने।। (2)
इससे परे मुझे करना विकास, अनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्य तक।
तन, मन, इन्द्रियों से परे विकास, जिस विकास परे न होता ह्रास।।
इस के लिए मुझे करना है क्षय, रागद्वेषमोह कामक्रोधमद।
ईर्ष्या, तृष्णा, घृणा, वैर, विरोध, परनिन्दा, अपमान, हानि, द्वन्द्व।। (3)

संकल्प-विकल्प-संक्लेश-बन्ध, आकर्षण-विकर्षण-विषम बन्ध।
तन-मन-इन्द्रियों के समस्त बन्ध, द्रव्यभावनोकर्म के समस्तबन्ध।।
निर्बन्ध से ही होगा परम विकास, भेद से अणु सम शक्ति होगी प्रगट।
विज्ञान मान्य $E=mc^2$ समान, प्रकाश (फोटोन) से भी अधिक होगा ऊर्ध्वगमन।। (4)
सूक्ष्मत्व, अव्याबाध, अगुरुलघुगुण, अनन्त ज्ञानदर्शन सुखवीर्यवान्।
अमूर्तिक, चिन्दानन्द, सहजानन्द, सत्य, शिव, सुन्दर, परमानन्द।।
इसके अनन्तर न होगा पतन, जन्मजरामरण-आधि-व्याधि शून्य।
शुद्धाणु पुनः पुनः होता अशुद्ध, किन्तु शुद्धात्मा कभी न होता अशुद्ध।। (5)
यह ही परम सत्य-परम-पूज्य, परम आदर्श है परम लक्ष्य।
परम ध्येय व परम आराध्य, इसे प्राप्त करना ही ''कनक'' का लक्ष्य।। (6)

ग.पु. कॉ-22-06-2020 मध्याह्न-3:00

परिग्रह की आत्मकथा

(24 परिग्रह रूपी महापाप, त्याग से मोक्ष व धन का शुभप्रयोग)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.पूछ मेरा क्या नाम रेऽऽ! 2.छोटी-छोटी गैया...)

परिग्रह मेरा नाम है, पराभूत करना काम है।
अन्तरंग-बहिरंग रूप से, मेरा प्रमुख भाग है।
मिथ्यात्व, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय है।
क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा अन्तरंग भेद है।। (1)
इस से ही होते बाह्यरूप, क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण है।
धन, धान्य, कुप्य, भाण्ड, दासीदास आदि रूप है।।
अन्तरंग मेरा अति प्रबल, इस से ही जायमान बाह्य रूप।
चुम्बक (शक्ति) से लोहा आकर्षित, अन्तरंग से बाह्य रूप है।। (2)
दोनों से (होते) आकर्षण-विकषर्ण, संकल्प-विकल्प-संक्लेश।
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा-द्वन्द्व, चोरी-मिलावट, लन्द-फन्द।।
अन्याय-अत्याचार-पापाचार होते, अतिक्रमण, आक्रमण, युद्ध।

वैर-विरोध, डाका, लूटपाट होते, भ्रष्टाचार से ले आतंकवाद।। (3)
माता पिता भाई बंधु कुटुम्ब, राजा-प्रजा से ले राष्ट्र-राष्ट्र।
होते परस्पर वैर से ले हत्यारे, ऐसी है मेरी शक्ति अपार।।
मेरे हेतु लोभी करे असिमसि कृषि, वाणिज्य शिल्प सेवादि आरंभ।
देश-विदेश, जंगल-सागर में जाते, पढ़ाई से ले आक्रमण युद्ध।। (4)
मेरे कारण हो जाते अहंकारी, करते फैशन-व्यसन, आडम्बर।
मेरे अभाव से दीन, हीन, भिखारी, मान, सम्मान, हीन, किंकर।।
प्रकृति दोहन से ले शोषण करते, हत्या से ले नशीली वस्तु व्यापार।
जिससे प्रकृति व समाज की विकृति, प्राकृतिक आपदायें से ले महामारी।। (5)
तथापि तृष्णा न शान्त होती, ईन्धन वृद्धि से यथा अग्नि वृद्धि।
जिससे बहु आरंभ-परिग्रह से लोभी, इहपरलोक में होते बहुत दुःखी।।
इस हेतु चक्री से ले तीर्थेश तक, परिग्रह त्याग से बने नग्न मुनि।
ध्यान-अध्ययन आत्मशुद्धि से, कर्मक्षय से पाते परम मुक्ति।। (6)
मेरा होता किंचित् शुभस्वरूप न्याय से उपार्जित धन उपयोग रूप।
आहार, औषधि, अभय ज्ञान दान में, दयादत्ति रूपी परोपकार रूप में।।
इस से स्वपर का होता उपकार, सातिशय पुण्य बन्ध व कषाय दूर।
परम्परा से स्वर्ग से ले मोक्ष मिले, मेरा वर्णन किया सूरी 'कनक'।। (7)

दयालु आगमनिष्ठ गुरु की स्व पर उपकार प्रवृत्ति

(वैयावृत्ति न करने वाले गुरु (साधु) श्रुतधर्म साधुवर्ग प्रवचन के त्यागी व पापी होते)

(चालः-1.आत्मशक्ति... 2.कसमें-वादे...)
कौन किसी का कर्त्ता धर्त्ता, कौन किसी का है भोक्ता?!
स्वयं ही स्वयं का कर्त्ता धर्त्ता, स्वयं ही स्वयं का भोक्ता।।
अशुभ शुभ या शुद्ध भाव का, स्वयं ही कर्त्ता धर्त्ता भोक्ता।
उसके फल है पाप-पुण्य-मोक्ष, सांसारिक दुःख-सुख व अनन्त सुख।। (1)

प्रमुख रूप में होता भाव कारण, द्रव्यक्षेत्रकालभावादि निमित्त।
देवशास्त्रगुरु भी होते हैं कारण, कर्म के उपशम-क्षयोपशम व क्षय।।
अनादिकाल से कर्म आबद्ध जीव, कर्म के ही होकर वशवर्ती।
रागद्वेषमोहकामक्रोध करे, तदनुकूल ही नवकोटि से प्रवृत्ति।। (2)
इससे प्रभावित हो हर काम करे, आहार-भय-मैथुन-परिग्रह आदि।
आधि-व्याधि व उपाधि भोगे, परनिन्दा-अपमान हानि आदि।।
अन्याय अत्याचार पापचार करे, ईर्ष्यातृष्णाघृणा वैरत्व आदि।
हिताहित व सत्य-असत्य न जाने, न जाने स्वदोष व अपराध आदि।। (3)
इस हेतु वे अन्य को दोषी मानते, यथा रावण, कंस, जरासंध, हिटलर।
यथा घोर मदमस्त जीव स्वयं को न दोषी माने, अन्य की करे निन्दा वैर-विरोध।।
यथा मिथ्यादृष्टि नारकी जीव, पूर्व भव के हितकारी माता-पिता को।
कष्ट देने वाले विभङ्गावधि से जाने, उन्हें भी मारे अपमान करे।। (4)
जब तक तीव्र पापकर्म उदय में होते, हितवचन भी लगते अहित।
अहितवचन-भाव-काम हितकर लगते, यथा मल के कृमि को मल लगे उत्तम।।
मारिची तक को दिव्यध्वनि न सुहाई, सिंह को सुहाए ऋद्धिधारी के वचन।
अंजनचोर बन गया निरञ्जन-सिद्ध, चक्रवर्ती तक करते नरक गमन।। (5)

सतगुरु देय जगाय मोहनीन्द जब उपशमे।
तब कुछ बने उपाय कर्मचोर आवत रूके।।
गुरुपेदशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।। (33 इष्टो.)

इस दृष्टि से सद्गुरु उपदेश देते, परोपकार भी पावन दृष्टि से।
विश्व के सभी जीव सुखी बने भावना से, तीर्थंकर प्रकृति बन्धे वात्सल्य से।।
किन्तु जब तक जीव स्वहित न चाहते, तीर्थंकर भी न कर सकते हित।
अभव्य या दूरान्दूरभव्यों का हित, न कर सकते अनन्त तीर्थंकर तक।। (6)

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्ट ज्ञापकत्वतः
स्वयंहितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।। (34 इष्टो.)

नाज्ञो विज्ञत्व मायाति, विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्।। (35 इष्टो.)
रुसउ व परो मा वा, विसं वा परियतउ।
भासियव्वा हिसा भासा सपक्खगुण करिया।।
न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततौ हित श्रवणम्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुध्या वक्तुस्त्वेकान्तन्ततो भवति।।
मोहोदयेण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं।। गो.सा./ ज.ध.
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुडि।।

इन सब दृष्टि से दयालु परोपकारी गुरु, उपदेश देते बार-बार शिष्यों को।
निर्यापक आचार्य तक यह काम करते, समाधिस्थ भूतपूर्व आचार्य तक को।
उत्तम, मध्यम, जघन्य शिष्यों को जानकर, करते व्यवहार दक्ष दयालु वैद्य सम।
वात्सल्यमयी सुयोग्य माता सम करते, द्रव्यक्षेत्रकालभाव के प्रमाण।। (7)
अन्यथा वे स्वयं होंगे दोष के भागी, तीर्थंकर-आज्ञाभंग से ले मिथ्यादृष्टि।
श्रुतधर्म साधुवर्ग प्रवचन त्यागी, इस हेतु परोपकार भी करे 'कनकनन्दी'।।
इन सब कारणों से व सहज दया से, स्वपर उपकार करूँ बाल्यकाल से।
नवकोटि से जो करे उपदेश ग्रहण, उसको लाभ होता अनेक प्रमाण।। (8)
इस हेतु करूँ उपदेश व साहित्य लेखन, इससे भी मुझे लाभ हो अनेक प्रमाण।
जो न माने नवकोटि से उसका भी चाहूँ कल्याण, मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ प्रमाण।।
किन्तु न करूँ रागद्वेषमोहईर्ष्याघृणा, न करूँ निन्दा-अपमान-वैर-विरोध।
अपायविचय-विपाकविचय धर्मध्यान करूँ, न करूँ आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान।। (9)
ऐसा करने से होगा मेरा ही अपकार, पापबन्ध दुश्चिन्ता अपमान से।
इह-परलोक में भी दुःख प्राप्त होगा, अतएव रखूँ समता-शान्ति मित्रता।। (10)

(आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की निस्पृहता व सामाजिक/(लौकिक) कार्य न करने की प्रतिज्ञा!)

(देश-विदेश के जैन-अजैन भक्त-शिष्यों द्वारा कुछ भौतिक निर्माण आदि हेतु (वर्ष 2002) निवेदन-सहयोग करने पर भी आचार्य श्री क्यों नहीं करते?!)

(आचार्य श्री की पूर्व अवस्था (क्षुल्लक/1980) से ही इन सब कार्यों के नहीं करने की प्रतिज्ञा है।)

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चालः 1.वैष्णव जन तो... 2. तुम दिल की...)

कनकनन्दी सरल/(सहज) गुरुवर...अद्भुत महिमाधारी रे ऽऽ...
अलौकिक शान्ति समता वृत्ति को...स्वार्थी जन न जाने रे...(ध्रुव)...
स्व-पर-विश्व हितकारी...लोकज्ञता धारी रे ऽऽ...
प्रवीण सुन्दर सौम्यदृष्टि...कल्याण रूप धारी रे ऽऽ...
क्षुल्लक अवस्था से ही गुरुवर...बाह्य प्रपञ्च त्यागी रे ऽऽ...
धन जन मान ख्याति त्यागकर...निस्पृह वृत्ति धारी रे ऽऽ...(1)...
भौतिक निर्माण आदि के हेतु...भक्त-शिष्य निवेदन करे हैं ऽऽ...
सहयोग आग्रह करने पर भी...अप्रभावी-साम्य रहे हैं ऽऽ...
टी.वी. प्रसारण, संस्था निर्माण...पत्रिका प्रकाशन हेतु कहे हैं ऽऽ...
निस्पृही-अयाचक गुरुवर...इन सब से अलिप्त हैं ऽऽ...(2)...
उक्त विषय के लाभ को गुरुवर...अनात्मकारी जाने/(माने) रे ऽऽ...
दिखावा-आडम्बर-प्रतिस्पर्द्धा से...सदा ही दूर रहे है ऽऽ...
नवकोटि से परिग्रह त्यागी...निर्ग्रन्थ समताधारी रे ऽऽ...
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा रिक्त...अनिन्दक, गुणग्राही रे ऽऽ...(3)...
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि...पुण्य की छाया माने है ऽऽ...
देश-विदेश के जैन-अजैन...भक्त-शिष्य बलिहारी है ऽऽ...

घर गृहस्थी लौकिक चर्चा...विकथा न करे है ऽऽ...
तन्त्र-मन्त्र-टोना-टोटका...प्रवञ्चना न करे है ऽऽ...(4)...
आहार-विहार-निवास आदि...बिना याचना करे है ऽऽ....
आबाल वृद्ध वनिता गण...स्वेच्छा से सेवा करे है ऽऽ...
गुणी-विज्ञानी कनक गुरु को...लोभी स्वार्थी न जाने रे ऽऽ ...
स्वाध्याय ज्ञान दान आदि से...भव्य जीव अब माने रे ऽऽ...(5)...
कनकनन्दी नित्यानन्दी...सहजानन्दी महान् हैं ऽऽ...
'सुविज्ञ' जन ऐसे सद्गुरु की...शरणा पाकर धन्य है ऽऽ...
कनकनन्दी सरल/(सहज) गुरुवर...अद्भुत महिमाधारी हैं ऽऽ...
अलौकिक शान्ति समता वृत्ति को...स्वार्थी जन न जाने हैं ऽऽ...(6)...

ग.पु.कॉ., दि-16/6/2020, मध्याह्न 1.45

परमार्थ रहित सांसारिक स्वार्थ युक्त धर्म निदान! निदान आर्त्तध्यान से धर्मभ्रष्ट-संसार से दुःख! (निदान रहित मेरी साधना)

(मैं ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि-वर्चस्व-भोगोपभोग धन-जन-भीड़-प्रदर्शन-प्रतिशोध आदि निदान रहित साधना करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.देहाची तिजोरी...(मराठी)... 2.सायोनारा... 3.मन रे!... 4.आजा आजा रे...)

आत्मन् तू धर्म शुक्ल ध्यान ध्याओ ऽऽऽ
इस हेतु त्यागो आर्त्त-रौद्रध्यान...निस्पृह-वीतरागी बनो...(ध्रुव)...
दुःखकारक होता आर्त्तध्यान...रौद्र/(क्रूर) कारक होता रौद्रध्यान...
धर्म युक्त होता धर्मध्यान...शुचिकारक होता शुक्लध्यान...
धर्म-शुक्ल ध्यान है मुक्तिकारक...(1)...
अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान होता...इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान भी तथा...
पीड़ा चिन्ता से होता आर्त्तध्यान...सांसारिक भोगार्त निदान आर्त्तध्यान...

निदान आर्त्तध्यान संसार/(मिथ्यात्व) वर्द्धक...
अविरत देशविरत प्रमत्त संयत तक सम्भव...(2)...

हिंसा में आनन्द रूपी रौद्र परिणाम...झूठ में आनन्द रूपी रौद्र ध्यान...
चोरी में आनन्दरूपी रौद्र ध्यान...परिग्रह संरक्षण मय रौद्र परिणाम...
अविरत-देशविरत तक सम्भव...(3)...

निदान आर्त्तध्यान सबसे पापकर...इससे प्रमत्त संयत मुनि भी भ्रष्ट...
चतुर्थकाल के अनेक मुनि भी...निदान से भ्रष्ट हो बने मिथ्यादृष्टि...
जिससे वे बनते दुष्ट-भोगी...(4)...

निदान आर्त्तध्यान से सम्यक्त्व (से) च्युत...मिथ्या शल्य रहित से होते व्रती...
निदान से मुनि भी मरण अनन्तर...बनते रावण, कंस, सम दुष्ट चित्त...
निदान वाले शलाका पुरुष भी कुबुद्धि...(5)...

प्रतिशोध, भोग, प्रसिद्धि, पुत्र, पत्नी...ख्याति पूजा लाभ धन जन मान हेतु...
जो करते धर्म निदान युक्त...वे होते धर्म भ्रष्ट से मिथ्यादृष्टि...
पापानुबन्धी पुण्य से देव दुर्गति...(6)...

ऐसे जीव करते पापाचार, दुराचार...आक्रमण, युद्ध, हत्या, अपहरण....
धन जन संहारक मातृ-पितृ-गुरुद्रोही...फैशनी-व्यसनी-स्वार्थी-कामी...
हठाग्रही, दुराग्रही, हितोपदेशी द्रोही...(7)...

प्रसिद्धि हेतु यदि निदान करे कोई...मुझे मिले तीर्थंकर सम पूज्य पदवी...
वह भी होता धर्म से च्युत...निदान ऐसी महान् पाप वृत्ति...
इससे मिले संसार में दुर्गति...(8)...

दुःखक्षय-कर्मक्षय-बोधिलाभ हो...समाधिमरण-जिनगुण सम्पत्ति प्राप्ति...
यह प्रशस्त निदान है मुक्ति के कारण...किन्तु सम्पूर्ण रिक्त से मुक्ति...
निस्पृहता-वीतरागता से ही मुक्ति...(9)...

निदान रहित अल्प भी साधना श्रेष्ठ...न निदान सहित साधना क्लिष्ट...
अल्पज्ञ शिवभूति मोक्ष पधारे...प्रतिशोध से द्वीपायन की दुर्गति...
निदान रहित साधना करे 'कनकनन्दी'...(10)...

धन जन मान सम्मान हेतु...ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व...

पत्रिका, विज्ञापन, होर्डिंग, पण्डाल...माईक, मञ्च गाजा बाजा साज सज्जा...
त्याग करे 'कनक' बोली चन्दा चिट्ठा...(11)...
निदान में/(से) होते ''अहंकार-ममकार''...मिथ्यात्व व भोगाकांक्षा प्रचुर...
जिससे निदान से सुफल न मिले प्रचुर...बिना निदान धर्म से सुफल मिले प्रचुर...
सांसारिक सुख से मोक्षसुख पर्यन्त...(12)...
इच्छा निरोध तप होता परमार्थ...इच्छा सह धर्म सांसारिक स्वार्थ...
अभी अधिसंख्य गृहस्थ से श्रमण तक...संसारिक स्वार्थ युक्त करते धर्म तप...
उनकी प्रतिस्पर्धा व नकल त्यागो...(13)...
करते वे दान पूजा तप त्याग...पञ्चकल्याण, चातुर्मास, विधान, कलश बोली...
केशलोंच, प्रवचन, रथयात्रा...तीर्थयात्रा से ले विहार व कवि सम्मलेन आदि...
दिखावा से कहते कर रहे हैं प्रभावना...(14)...

सन्दर्भ-

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधर जिणत्तं।
सोभाग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु।। (1211) भ.आ.

मानकषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्य पद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय की प्राप्ति की प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण।। (1212)

क्रोध कषाय के वश होकर भी कोई मरते समय दूसरे का वध करने की प्रार्थना करता है। जैसे-वशिष्ठ ऋषि ने उग्रसेन का घात करने का निदान किया था। वह मरकर कंस बना।

देविगमाणुसभोगे णारिस्ससिट्ठिसत्थवाहत्तं।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं।। (1213)

देवों व मनुष्यों में होने वाले भोगों की अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण व सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होने की वांछा करना भोगनिदान है।

ग.पु.कॉ., दि-22/06/2020, रात्रि 12.54 व प्रातः 7.43

निदान आर्त्तध्यान

निदानं च।(33) मोक्षशा.

The fourth monomania is:

निदान on beings anxious to enjoy worldly objects and not getting them in this world to repeatedly think of gaining them in future.

निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है।

निदान अप्राप्त की प्राप्ति के लिये होता है, इसमें पारलौकिक विषय-सुख की गृद्धि से अनागत अर्थ-प्राप्ति के लिये सतत चिन्ता चलती रहती है।

ज्ञानार्णव में कहा भी है-

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुखधूलास्यलीलायुवत्यः
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजां।
यत्तद्भोगार्यमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं।।(34) (ज्ञानार्णव)

धरणीन्द्र के सेवने योग्य जो भोग और तीन भुवन को जीतनेवाली रूप साम्राज्य की लक्ष्मी तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओं के समूह जिसमें ऐसा राज्य और देवागंनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली स्त्री, इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुयें मेरे कैसे हो, इस प्रकार के चिंतवन को परम गुणों को धारण करनेवालों ने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है। और यह संसार की परिपाटी से हुआ है और संसार का मूल कारण भी है।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणाम्
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम।।(35)

जो प्राणी पुण्याचरण के समूह से तीर्थंकरके अथवा देवों के पद की वांछा करें, अथवा उन ही पुण्याचरणों से अत्यन्त कोप के कारण शत्रुसमूहरूपी वृक्षों के उच्छेदने की वांछा करें तथा उन विकल्पों से अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभादिक की

याचना करें, उनको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान भी जीवों की दुःख रूपी अग्नि का तीव्र स्थान है।

इष्टभोगादिसिध्दयर्थं रिपुघातार्थमेव वा।

यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकं।।(36)

मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिये तथा शत्रु के घात के लिये जो निदान हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है।

गुणस्थान की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।(34)

That **आर्तध्यान** painful concentration is possible only to a man in any of the following stages of spirituality.

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है।

असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त, अविरत, संयता-संयत और 15 प्रमाद सहित क्रिया का अनुष्ठान करने वाले प्रमत्तसंयतों के होते हैं। प्रमत्त संयतों के प्रमाद के उद्रेक से निदान आर्त्तध्यान को छोड़कर कदाचित् अन्य तीन आर्त्तध्यान होते हैं। क्योंकि निदान शल्य व्रतों के घातक है अर्थात् संयत के निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं हो सकता।

ज्ञानार्णवः में कहा भी है-

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैविकल्पैरार्तं समासादिह हि प्रणीतम्।

अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः।।(35)

इस प्रकार उक्त चार प्रसिद्ध भेदों के साथ यहाँ संक्षेप से आर्तध्यान को निरूपण किया गया है। वैसे जीव अनन्त तथा उनके अभिप्राय भी चूँकि अनन्त हैं, अतएव उक्त आर्तध्यान के भी अनन्त भेद हो जाते हैं। उनका यदि पूर्णरूप से कोई निरूपण कर सकता है तो वे वीर जिनेन्द्र ही कर सकते हैं, अन्य कोई छद्मस्थ उसका पूर्णतया निरूपण नहीं कर सकता है।

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।

विद्धयसद्धयानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम्।।(36)

यह असमीचीन आर्तध्यान यद्यपि प्रथम क्षण में रम्य प्रतीत होता है फिर भी

वह परिणाम में अहितकारक ही है, यह जान लेना चाहिए। वह प्रथम छह गुणस्थानों में पाया जाता है।

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेद प्रजायते।

प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा।।(37)

वह संयतासंयतों में-प्रथम पाँच गुणस्थानों में-उपुर्यक्त चारों भेदों में संयुक्त रहता है। परन्तु प्रमत्तसंयत जीवों के वह निदानभेद से रहित शेष तीन भेदयुक्त पाया जाता है।

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।

इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम्।।(38)

जिस प्रकार इन्धन दावानल की ज्वाला को विस्तृत करता है उसी प्रकार यह आर्तध्यान पापरूपअग्नि की ज्वाला को विस्तृत करता है। वह कृष्ण और नील आदि अशुभलेश्या के बल से वृद्धिंगत होता है।

एतिद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते।

अनाद्यसत्समुभ्दूतसंस्कारादेव देहिनाम्।।(39)

यह प्राणियों के बिना प्रयत्न के ही अनादि काल से उत्पन्न हुए दुष्ट संस्कार के वश स्वयं उत्पन्न होता है।

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतिः फलम्।

क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।।(40)

इस ध्यान का फल अनन्त दुःखों से व्याप्त तिर्यंच गति की प्राप्ति है। यह क्षायोपशमिक भाव है और काल इसका अन्तर्मुहूर्त्त है।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तय।

उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।

मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-

मार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्याविर्णितानि स्फुटम्।।(41)

शंका, शोक, भय, प्रमाद, झगडालु वृत्ति, चिन्ता, भ्रान्ति, व्याकुलता, पागलपन, विषयों की अभिलाषा, निरन्तर निद्रा, शरीर की जड़ता, परिश्रम और मूर्च्छा आदि ये

उस आर्तध्यान से आक्रान्त मन वाले प्राणियों के निरन्तर बाह्य चिन्ह होते हैं जो स्पष्टतया पूर्णश्रुत के धारक गणधरों के द्वारा कहे गये हैं।

परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है। प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है। क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान् व्यक्ति के मोह का अभाव है। अतः निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है। अथवा, ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, अहेय हैं। अतः वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि तो कर्मोदयजन्य है, अनात्म-स्वभाव है और हेय हैं। इसलिये इनमें होने वाला 'ममेद' संकल्प परिग्रह है। अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह ही सर्व दोषों का मूल कारण है। यह परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल है। 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है, मैथनु कर्म में भी प्रयत्न करता है, अर्थात् परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है।

इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, इस लोक में भी निरंतर दुःख रूपी महासमुद्र में अवगाहन करता है, अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी परिग्रह का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है।

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः।। (111)

जो यह मूर्छा है यह ही परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

मूर्छा और परिग्रह की व्याप्ति

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।। (112)

परिग्रह का मूर्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार-बहिरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी

तरह घट जाती है बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्छा वाला परिग्रह वाला है।

बाह्य परिग्रह में परिग्रहपना है या नहीं

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं।। (113)

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्छा ही किया जाता है उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह सदा मूर्छा का निमित्त कारण होने से अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्वपरिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

परिग्रह में हिंसा

हिंसापर्यायत्वातु सिद्धा हिंसातरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयायु मूर्छैव हिंसात्वं।। (119)

अंतरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है।

बाह्य परिग्रह के त्याग का उपदेश

बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रवभत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।। (127)

जिस बाह्य परिग्रह से भी अनुचित संयम उत्पन्न होता है उस अचित्त अथवा सचित्त समस्त परिग्रह को छोड़ देना चाहिये।

धन धान्यादि भी कम करने उचित

योपि न शक्तसत्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोपि तनूकरणीयः निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं।। (128)

जो कोई भी धन, धान्य, मनुष्य, घर, द्रव्य आदि छोड़ने के लिये समर्थ नहीं है उसे परिग्रह भी कम करना चाहिये क्योंकि तत्त्वस्वरूप निवृत्तिस्वरूप है।

व्रतों की विशेषता

निश्शल्यो व्रती। (18)

A व्रती Vrati, or a vower should be without (blemish which is like a thron) शल्य Shalya, which makes the whole body restless.

जो शल्यरहित है वह व्रती है।

अनेक प्रकार से प्राणीगण को दुःख देने से शल्य कहलाती है। विविध प्रकार की वेदना रूपी शलाकाओं (सुइयों) के द्वारा प्राणियों को छेदती है, दुःख देती है, वे शल्य कहलाती है।

जैसे शरीर में चुभे हुए काँटा आदि प्राणियों को बाधा करने वाली शल्य हैं, अर्थात् शरीर में चुभा हुआ काँटा प्राणियों को दुःख देता है, उसी प्रकार कर्मोदय विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा का कारण होने से शल्य की भाँति शल्य नाम से उपचारित किया जाता है।

माया, मिथ्यात्व और निदान के भेद से शल्य तीन प्रकार के हैं। यह शल्य तीन प्रकार की है-माया, मिथ्यात्व और निदान। माया, निकृति, वञ्चना, छल-कपट ये सब एकार्थवाची हैं। विषयभोगों की कांक्षा निदान है। अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन हैं।

व्रतों के भेद

अगार्यनगारश्च। (19)

(Vowers are of 2 kinds); अगारी Agari, house holders (laymen) and अनगार Anagara, house less (ascetics).

उसके अगारी और अनागार ये दो भेद हैं। आश्रयार्थी जनों के द्वारा जो स्वीकार किया जाता है, वा उसमें पाया जाता है, वास किया जाता है, वह अगार-घर है। अगार, वेश्म, गृह ये सब एकार्थवाची हैं, अगार जिसके है, वह अगारी कहलाता है। जिसके अगार नहीं है, वह अनागार कहलता है।

यहाँ चारित्र मोह के उदय से घर के प्रति अनिवृत्त परिणामरूप भावागार विवक्षित है। अतः भावागार (जिसके चारित्र मोहनीय का उदय है वह) व्यक्ति किसी कारणवश घर को छोड़कर वन में रहता है तो भी वह अगारी है और चारित्रमोह के उदय के अभाव से निर्ग्रंथ मुनि किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारणवश शून्यागार,

जिनमंदिर आदि में रहता है तो भी अनगार है अर्थात् विषय-तृष्णाओं से निवृत्त मुनि यदि शून्य घर, मंदिर आदि में रहता है तो भी वह अनागारी है। अथवा राजा की तरह व्रती कहलाता है। जैसे बत्तीस हजार देशों का अधिपति चक्रवर्ती राजा कहलाता हैं। वैसे एक देश का स्वामी वा चक्रवर्ती आधे देश का स्वामी त्रिखण्डाधिपति क्या राजा नहीं कहलाता? अपितु, एकदेशपति वा आधे देश का पति भी राजा कहलाता ही है। उसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करने वाला जैसे पूर्ण व्रती है वैसे अणुव्रतधारक संयतासंयत व्रती नहीं है, फिर भी अणुव्रतधारी भी व्रती कहलाता है।

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी। (20)

(One whose five) vows (are) partial (is) a house holder.

अणुव्रतों का धारी अगारी है।

'अणु' शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प है वह अणुव्रत वाला अगारी कहा जाता है। अगारी के पूरे हिंसादि दोषों का त्याग संभव नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं। यह त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है; इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृह विनाश और ग्राम विनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजा के भय आदि के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तु को लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाती है इसलिये उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थ के स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संगत्याग करने से रति घट जाती है इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नाम का चौथा अणुव्रत होता है तथा गृहस्थ, धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिये उसके पाँचवाँ परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है।

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सेव्वसिं।
साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो।। (1206) भग.आरा

भावनाओं से भावित साधु गहरी नींद में सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ

भी सब व्रतों में दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है।

इसलिये हे क्षपक! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओं से अपने को भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे।

शल्य व्रतरूप परिणामों के घात के निमित्त होते हैं। अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं-

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।। (1208)

शल्यरहित के ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदि में घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरंग घुसा परिणाम प्राणी को कष्ट पहुँचाने में निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्द से कहा है। जैसे एषणासमिति का अभाव अहिंसा व्रत का घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रत का घातक है क्या? इस आशंका को दूर करने के लिये सर्व शब्द का प्रयोग किया है।

शंका-मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतों का भी घात करते हैं। यहाँ उन्हें महाव्रतों का घातक क्यों कहा?

समाधान-आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रत का प्रकरण होने से महाव्रतों का घातक कहा है।

शंका-व्रत तो हिंसा आदि से विरतिरूप परिणाम मात्र हैं। वे मिथ्यात्व आदि शल्य के होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्य के ही महाव्रत होते है?

शंका-माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये?

समाधान-नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रत का घात प्रकर्ष रूप से करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्द का पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्द के साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्द का पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्ष के मार्ग रूप से सम्यक्चारित्र का कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अभाव में नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्व के रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप

अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्ति से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदि की परम्परा से व्रत का घातक है। तथा मन से दोषों को छिपाने रूप माया भी व्रत का घात करती है।

विशेषार्थ-निदान से सम्यग्दर्शन में अतिचार लगता है और व्रत का मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदान से व्रतों का घात होता है।

गा.-उन शल्यों में निदान नामक के शल्य के तीन भेद हैं-प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकार का निदान मोक्ष के मार्ग रत्नत्रय का विरोधी है।

प्रशस्त निदान का कथन करते हैं-

संजमहेदुं पुरिसत्तसबलविरियसंघदणबुद्धी।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि पसत्थं।। (1210)

संयम में निमित्त होने से पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियों के बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्त में विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुल में हो, ऐसे कुल में हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है।

विशेषार्थ-एक प्रति में दरिद्रकुल तथा एक में बन्धुकूल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेने के लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मुनष्य के मन में विरक्ति उत्पन्न होने की बात है।

अप्रशस्त निदान कहते हैं-

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु।। (1211)

मानकषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदि की प्राप्ति की प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है।

माता के वंश को जाति और पिता के वंश को कुल कहते है। जाति कुल और

रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्याय में जन्म लेने पर ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूप से प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषाय से दूषित होने से यह अप्रशस्त निदान है।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण।। (1212)

क्रोध कषाय के वश होकर भी कोई मरते समय दूसरे का वध करने की प्रार्थना करता है। जैसे वशिष्ठ ऋषि ने उग्रसेन का घात करने का निदान किया था।

विशेषार्थ-वशिष्ठतापसने उग्रसेन को मारने का निदान किया था। इस निदान के फल से वह मरकर उग्रसेन का पुत्र कंस हुआ। और उसने पिता को जेल में डालकर राज्यपद प्राप्त किया। पीछे कृष्ण द्वारा स्वयं भी मारा गया।

भोगनिदान का कथन करते हैं-

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं।। (1213)

देवों और मनुष्यों में होनेवाली भोगों में अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होने की वांछा करना भोगनिदान है।

संजम सहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं।। (1214)

संयम पर्वत के शिखर के समान है क्योंकि जैसे पर्वत का शिखर अचल और दुःख से चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है। उस संयम पर जो आरूढ़ है अर्थात् उत्कृष्ट संयम का धारी है, घोर तप करने में उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियों का धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवाले का तो कहना ही क्या है।

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणभविगणियपरमसुहं।
सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं।। (1215)

जो मुक्ति के उत्कृष्ट सुख का अनादर करके अल्पसुख के लिए निदान करता

है वह करोड़ों रुपयों के मूल्यवाली मणि को एक कौड़ी के बदले बेचता है।

जो निदान करता है वह लोहे की कील के लिए अनेक वस्तुओं से भरी नाव को-जो समुद्र में जा रही है तोड़ता है, भस्म के लिए गोशीर्षचन्दन को जलाता है और धागा प्राप्त करने के लिए मणिनिर्मित हार को तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़े से लाभ के लिए बहुत हानि करता है। एक सूपकार ने अपनी मूर्खता से अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशों से) जानना।

जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोग के लिए रसायन के समान ईख को पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोग के लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियों का विनाश करने में तत्पर मुनि पद को नष्ट करता है।

मोक्ष के अभिलाषी मुनिगण ''मैं मरकर पुरुष होऊँ'' या मेरे वज्रऋषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकार का भी निदान नहीं करते। क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्याय का परिवर्तन स्वरूप होने से संसार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है।

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं।। (1219)

हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वभाविक दुःखों का नाश हो। तथा उनके कारणभूत कर्मों का क्षय हो। रत्नत्रय का पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षा की ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञान का लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है।

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि।। (1220)

जो रत्नत्रय की आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्म में पुरुषत्व आदि का तथा संयम का लाभ निश्चय ही होता है।

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो।। (1221)

निर्यापकाचार्य क्षपक को शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकषाय का विनाश करने के लिए शरीर से निर्वेदका, मान के दोषों का और संसार के निर्वेद का चिन्तन करना

चाहिये। शरीर के अशुचित्व आदि स्वभाव का चिन्तन करने से 'इस शरीर से क्या लाभ' इस प्रकार शरीर में अनादर होता है उसे शरीर निर्वेद कहते हैं।

शंका-शरीर का चिन्तन मानकषाय को दूर करने में निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीर में अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है?

समाधान-यद्यपि मान शब्द मान सामान्य का वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभिमान लिया है। वह शरीर के निर्वेद से नष्ट होता है। नीच कुलों में जन्म, आदरणीय गुणों का प्राप्त न होना, सबका अपने से द्वेष करना, रत्नत्रय आदि का लाभ न होना, ये सब मानकषाय से होने वाले दोष हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप संसार से विमुख होना संसार-निर्वेद है। संसारनिर्वेद में उपयोग लगाने से अहंकार के निमित्तों का विनाश होता है। क्योंकि अनेक निन्दनीय गुण, जो अहंकार में निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियों में पाये जाते हैं। तथा अपने को जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरों को प्राप्त हैं। अतः उनका अभिमान कैसा?

कुल का अभिमान दूर करने का उपाय कहते हैं-

नीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ।
जीवाणं खु कलाइं पथियस्स व विस्समंताणं।। (1222)

स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि से हीन व्यक्ति को नीच कहते हैं। जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि से हीन होता है वही नीच हो जाता है। जीवों के कुल पथिक के विश्राम स्थान की तरह हैं। जैसे पथिक के विश्राम को लेने का स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है। तब अनियत कुल का गर्व कैसा? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होने से कुलों की बहुतायत प्रकट करता है। और कुलों की बहुतायत से कुलों की अनित्यता दिखलाई है।

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरे की हानि की भावना से गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुल में जन्म लेने से आत्मा की हानि वृद्धि नहीं होती।

शंका-जिसमें रहकर जीव अपने शरीर को रचता है उसे योनि कहते हैं। योनि तो उच्च या नीच होती नहीं। तब 'उच्चासु या नीचासु' क्यों कहा?

समाधान-यहाँ योनि शब्द से कुल को ही कहा है। अतः ऐसा अर्थ होता है-

मान्य कुल में अथवा निन्दनीय कुल में उत्पन्न हुए जीव को वृद्धि या हानि नहीं होती। सर्वत्र जीव का परिमाण उतना ही रहता है। ज्ञानादि गुणों में अतिशय होने पर ही उत्कृष्टता होती है। कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते। और अनादरणीय कुल में उत्पन्न होकर भी यदि गुण होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं। कहा है-संसार में भ्रमण करते हुए प्राणी का कोई कुल स्थायी नहीं है। वही जीव अपने कर्म के अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलों में जन्म लेता है। वही जीव अपने कर्म के वश होकर राजा और दास, चण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानल से पीड़ित तथा माँगने वाला होता है। उच्च कुलों में मनुष्यों को जन्म लेने में गर्व कैसा? और नीच कुलों में जन्म लेने पर घृणा कैसी? गर्व करना हो तो धर्म में ही करना चाहिए और घृणा भी पाप से करनी चाहिए।

यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्र में जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्र में जन्म लेता है। इस प्रकार उच्च गोत्र की शलाका नीच गोत्र है। शलाका से मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्र में जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्र में जन्म। नीच गोत्रों के अन्तराल में प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं।

विशेषार्थ-यद्यपि यह जीव संसार में भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्र में जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्र में जन्म लेता है। तथापि अनन्त बार नीच गोत्र में जन्म लेने के पश्चात् एक बार उच्च गोत्र में जन्म लेने की परम्परा को भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रम से इसने उच्च गोत्र में भी अनन्त बार जन्म लिया है।

इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुल में जन्म लेने का गर्व कैसा? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पाने के बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता। तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्र में जन्म लेने का दुःख कैसा।

'मैं उच्च कुल में जन्मा हूँ' ऐसा मन में संकल्प होने से जीवका उच्च कुल में अत्यन्त अनुराग होता है। इस प्रकार के संकल्प के बिना सामान्य कुल में जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होता। तथा नीच कुल में जन्म लेना ही दुःख का कारण नहीं है। दुःख का कारण है मान-कषाय की बहुतायत। गाथा में कषाय शब्द सामान्यवाची है

तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए। मानकषाय की बहुतायत जीव को दुःख देती है, केवल नीच गोत्र में जन्म ही दुःख का कारण नहीं होता।

अनुराग और दुःख संकल्प के अधीन है, यह कहते हैं-

गाथा में आये भाव शब्द के यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि वहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है। जो मन से उच्च गोत्र के समान नीच गोत्र को देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुल में जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है। मन में विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या? ऐसा विचार करते ही उच्च कुल के समान नीच कुल में भी अनुराग क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

आगे की गाथा में इससे विपरीत कथन करते हैं-

जो जीव भाव से उच्चपने को नीचपने की तरह देखता है उसकी नीचपने की तरह उच्चपना में क्या दुःख नहीं होता? होता ही है। किसी से प्रीति या अप्रीति तो संकल्प के अधीन है वह बात समस्त जगत् के अनुभव से सिद्ध है। क्योंकि संकल्प से उच्च गोत्र होते हुए भी सुख का भाव और दुःख का अभाव नहीं होता।

अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता। किन्तु जीवका संकल्प सुख या दुःख करता है। संकल्प के होने पर सुख दुःख होता है और संकल्प के अभाव में नहीं होता।

आगे कहते हैं कि मानकषाय के कारण यह दोष होता है-

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु।
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी।। (1230)

मानकषाय अर्थात् अहंकार पुरुष को अनेक जन्मों में नीच गोत्री बनाता है। देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्व के कारण अनेक बार नीच गोत्र में उत्पन्न हुई।

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च।
आणाणाणा य तहा बिघिणा तेणेव पडिसेज्ज।। (1231)

मानकषाय का जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञा का भी निषेध जानना। गाथा में आगत रूपशब्द

यद्यपि सामान्य वाची होने से सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकार के रूप का वाचक है तथापि विरूप शब्द के साथ में प्रयुक्त होने से अतिशयरूप को कहता है। अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है। सौभाग्य अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्य का अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना। जिसने अनेक जन्मों में तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है। इसी प्रकार अनन्त जन्मों में पूजा प्राप्त करनेवाला तिरस्कृत होता है। अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पाने पर दुःख कैसा? जो बहुत जन्मों में पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कार को प्राप्त करेगा। पूजा होने पर आत्मा में वृद्धि नहीं होती और तिरस्कार होने पर आत्मा में कोई हानि नहीं होती। संकल्प के कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कार से नहीं होते। कहा भी है-

जो मधुर वचनों के द्वारा अपने निर्मल गुणों के लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकार के कठोर वचनों से निन्दा का पात्र होता है। कैसा आश्चर्य है कि संसाररूपी संकट में पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकार के कर्मों के फल को भोगता है। मनुष्यों का स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है। पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है। जो युवतियों के प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आने पर द्वेष के पात्र बनते हैं। जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणों से भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होने पर दरिद्र देखा जाता है। जो बहुत से मित्रों और बन्धु-बान्धवों से घिरा हुआ होता है, विपत्ति में पड़ने पर वही एकाकी देखा जाता है।

इत्यादि बातों का विचार न करनेवाले पुरुष को मान होता है। और जो इन बातों को सम्यक्रूप से देखता है उसको मान नहीं होता।

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढणं होदि।
कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवधणिदाणं।। (1233)

उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीर की स्थिरता, अदरिद्रकुल में जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परामपरा से मुक्ति के कारण हैं ऐसा चित्त में विचार कर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों, यदि संसार का बढ़ोनवाला है तो दूसरे के बंध का चित्त में निदान करना दीर्घ संसार का कारण क्यों नहीं है? अवश्य है।

यहाँ कोई शंका करता है कि रत्नत्रय में अतिशय लाभ की भावना से मैं

आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है? इसका उत्तर देते हैं-

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे।
धणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण।। (1234)

आचार्य पद आदि का निदान करने पर भी जिस भव में निदान किया है उन भव में अत्यन्त संयम का पालन करने पर भी मानकषाय के दोष के कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस संकल्प से आचार्य आदि होने की प्रार्थना करता है। इससे उसका अहंकार प्रकट होता है।

आगे कहते हैं कि भोगों के दोषों का चिन्तवन करने से भोगों का निदान नहीं होता-

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा।। (1235)

ये भोग किंपाकफल के समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियों के भोग भोगने में मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछे से जीव को बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है।

भोगनिदान के दोष कहते हैं-

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं।
साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं।। (1236)

मुनिपद धारण करके भोग का निदान करने से तो मुनिपद भोगों के लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षय के लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोग का निदान करने पर चित्त राग से व्याकुल रहता है और ऐसा होने से नवीन कर्मों का बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा? जैसे कोई वन में वृक्ष की शाखा में लगे फलों को खाने में लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थान पर पहुँचने में विघ्न आ जाता है वैसे ही भोग का निदान करनेवाले श्रमण की भी दशा होती है।

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ।। (1237)

जैसे एक मेढ़ा दूसरे मेढ़े पर अभिघात करने के लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगों का निदान करनेवाले यति का ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुन के लिए ही होता है।

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण।

भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो।। (1238)

जैसे व्यापारी लोभवश लाभ के लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगों के लिए धर्म को बेचता है।

भोगों का निदान करनेवाले के मुनिपद की निन्दा करते हैं-

सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा।

काएण सीलवहणं होदि दु णडसमणरूवं व।। (1239)

भोगों का निदान करनेवालों के अभ्यन्तर में वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है। तथा वह मन से मैथुन कर्म में प्रवृत्त होने से अब्रह्मचारी है और मन से मैथुन से निवृत्त न होने से अविरत है। वह केवल शरीर से ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अतः वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमण का वेश धारण करता है वैसे ही अपने भी श्रमण का वेश धारण किया है। भाव श्रामण्य के विना केवल शरीर से मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनि का मुनिपद भी व्यर्थ है।

रोगं इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई।

तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए।। (1240)

जैसे कोई औषधि सेवन के सुख की अभिलाषा से रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगों की तृष्णा से दुःख चाहता है।

खंधेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ।

तह भोगत्थं होदि दु संजमवहणं णिदाणेण।। (1241)

मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूँगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिला को कन्धे पर उठाता है और उसके उठाने के कष्ट की परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर संयम को धारण करने से मुझे भोगों की प्राप्ति हो इस

निदान के साथ जो संयम धारण करता है उसका संयम धारण भोगों के लिये है अर्थात् स्वल्पसुख के लिए बहुत दुःख उठाता है।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु से उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुख से उस सुख में निमित्त वस्तु का विनाश होने पर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोड़े से सुख के लिये कौन दुःखीभीरु ज्ञानी दुःख समुद्र में गिरना पसन्द करेगा-

भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदि से होने वाला सुख तथा सुख के साधन में निमित्त वस्तु का विनाश होने पर होनेवाला दुःख इन दोनों सुख और दुःख में से भोग के साधनों का विनाश होने पर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है।

यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगों से पीड़ित और विनाशशील है इसमें जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है? वास्तव में दुःख का प्रतीकार अथवा दुःख को कम करना ही सुख है। अर्थात् दुःख के प्रतीकार को या दुःख की कमी को ही सुख मान लिया गया है वास्तव में सुख नहीं है।

सुख के विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःख के विना नहीं होता। अतः जो इन्द्रिय सुख का अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान् के लिए दुःख की चाह युक्त नहीं है यह कहते हैं-

जैसे यह सुख की अपेक्षा के विना थोड़ा-सा भी दुःख पुरुष को कष्टदायक होता है वैसे ही लोक में इन्द्रियजन्य सुख दुःख की अपेक्षा के विना नहीं है।

भूख और प्यास से पीड़ित पुरुष ही भोजन और पेय को खोजता है। कठोर घाम से पीड़ित शीतल प्रदेश खोजता है। शीत से जिस का शरीर ठिठुर गया है वही ओढना आदि खोजता है। वायु घाम वर्षा आदि से पीड़ित ही मकान खोजता है। उठने बैठने में थका हुआ ही शय्या चाहता है। पैदल चलने से हुए कष्ट को दूर करने के लिए ही सवारी आदि चाहता है। विरूपता दूर करने के लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है। दुर्गन्ध दूर करने के लिए ही सुगन्धित द्रव्यलोभान आदि होते हैं। खेद दूर करने के लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं। इस तरह सब दुःख के प्रतीकार के लिए हैं। स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियों को स्त्रीवेद पुरुष और नुपंसकवेद के उदय से परस्पर में रमण करने की अभिलाषा होती है। किन्तु वह अभिलाषा

परस्पर में शारीरिक संसर्ग होने पर भी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उस अभिलाषा में निमित्त वेदकर्म का सद्भाव है। कारणों के अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है। काम का सेवन करने से नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुंसकवेद का बन्ध होता है। तथा सत्ता में स्थित इन कर्मों के अनुभाग में वृद्धि होती है क्योंकि कारण के होने पर कार्य नित्य ही हुआ करता है। जिन के चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आग से जलते हैं उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलेगी। तीनों वेदों के चले जाने पर कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव होता है। अतः वेदों का पूर्णरूप से अभाव होने पर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है।

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाये हैं-

जैसे कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति का शरीर आग में जलने पर भी कुछ रोग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुष्ठ रोग को शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुष्ठ रोग को शान्त नहीं करती। उसी प्रकार मैथुन के समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखों से शरीर नोंचना केश खीचना आदि से होने वाले दुःख को कामी सुख मानता है। कहा भी है-कामी पुरुष पिशाच से ग्रहीत पुरुष की तरह नग्न होकर स्त्री के साथ रमण करता है और श्वास तथा थकान से पीड़ित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है।

जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लता को खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःख का अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है।

जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केले के वृक्ष में मूल मध्य या अन्त में कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगों में कुछ भी सार नहीं है।

जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डी के द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्त का स्वाद लेते हुए सुख मानता है।

उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोग में किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीर के श्रमको सुख मानता है।

विषयभोग में सुख अनुभव सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुख के नहीं होने पर सुख के

कारण में विपरीत बुद्धि होने से जगत् को सुख का बोध होता है-

जैसे वन में हरिण आदि जब प्यास से व्याकुल होकर जल की इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जल के समान प्रतीत होती है किन्तु हरिण के उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार राग के प्यासे को भोग सुख की तरह प्रतीत होते हैं।

जैसे श्मशान में व्याघ्र मुर्दे को खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीर के आलिंगन में अज्ञानी सुख मानकर हर्ष से भर जाते हैं।

आगे कहते हैं कि भोग में भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है-

जैसे ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त वेग से दौड़ते हुए और मध्यकाल के सूर्य की किरणों से संतप्त पुरुष को मार्ग में स्थित एक वृक्ष की छाया में जाने से थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोग में अति अल्प सुख है।

अथवा नदी में डूबते हुए और प्रवाह के द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्य को भूमि से अंगूठे के छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है।

यदि इन्द्रिय सुख पूर्व में कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्ति में हर्ष होना उचित था किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोड़ गये विषयों में हर्ष मानना उचित नहीं है। इस प्रकार आचार्य विषयों के प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं-जितने संसार के भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयों में आश्चर्य कैसा?

आगे कहते हैं कि तुम्हे भोगों की तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगों का सेवन उसी तृष्णा को बढ़ाता है अतः भोगों की इच्छा को कम करो-

जैसे जैसे भोगों को भोगते हो वैसे वैसे भोगों की तृष्णा बढ़ती है। जैसे इंधन से आग प्रज्ज्वलित होती है वैसे ही भोगों से तृष्णा बढ़ती है। कहा भी है-यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियों के विषयों में इसकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है।

तीन पल्य तक भोगभूमि में, तेत्तीस सागर तक देवों में इस तरह चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्ति के विना चित्त अत्यन्त

उत्कण्ठित रहता है। जैसे ईधन से आग की तृप्ति नहीं होती। अथवा जैसे हजारों नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगों से जीव की तृप्ति नहीं होती।

देवों के अधिपत्ति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगों से तृप्त नहीं होते। तब साधारण मनुष्य कैसे भोगों से तृप्त हो सकता है? अर्थात् इनके लिए भोगों के अपरिमित साधन सुलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होने से चिरकाल तक ये जीवित रहते हैं और किसी के अधीन न होने से स्वतन्त्र होते हैं। आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरने में भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं। अतः उनकी भोगों से तृप्ति होने की तो बात ही क्या है?

सम्पत्ति होने पर मनुष्य अप्राप्त द्रव्य के कमाने में, एकत्र हुए द्रव्य के रक्षण में, दूसरे के हाथ में गई सम्पत्ति को उससे लेने में और आदि शब्द से उसे खर्च करने में, तथा भोगने में व्याकुल रहता है और विपत्ति में अर्थात् धन आदि का विनाश होने पर कैसे मैं जीवित रहूँगा? कैसे पुनः द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठा से व्याकुल रहता है।

जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता। सुख के विना प्रीति नहीं होती प्रीति के विना रति नहीं होती। इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनी से ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुख के विना प्रीति और प्रीति के विना रति सम्भव नहीं है।

हे क्षपक! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेष शमन करके परम तृप्तिकारक आध्यात्म सुख में रति कर। कहने का अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयों के प्राप्त होने पर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकार के संकल्प के कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हें त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुख में रमण कर। यहाँ आध्यात्म शब्द से आत्मस्वरूप विषयक रति कही है। उसके समान कोई रति नहीं है। क्योंकि भोगसम्बन्धी रति आध्यात्म विषयक रति के समान नहीं है।

क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमें परद्रव्य का अवलम्बन लेना होता है और पर द्रव्य कभी-कभी ही किसी किसी को ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं। इससे स्वाधीन और पराधीन होने से दोनों में असमानता कही। अन्य प्रकार से भी दोनों में विषमता बतलाते हैं-

भोग रति से जो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रति से नहीं होता क्योंकि आत्म द्रव्य सर्वत्र और सर्वथा उसके पास रहता है।

भोग रति में अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं-

भोग रति का नियम से विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं। किन्तु अच्छी रीति से भावित अध्यात्म रति का न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं। इस तरह भोगरति नियम से नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरहित निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनों में कोई समानता नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुख को शत्रु के समान मानो। ऐसा करने में उनमें जो आदर भाव है वह दूर होगा। तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागता का कारण होने से संवर रूप है-

यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुष के शत्रु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं हैं? अवश्य हैं। भोग दुःख के कारण क्यों है यह विचार करें। स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्य के मिलने से जो सुख होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं। वह स्त्री आदि धनहीन के लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः धन की प्राप्ति के लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए उससे महान् आरम्भ होता है। हिंसा आदि में प्रवृत्ति करने में इसी भव तथा परभव में दुःख देने वाले कर्म का उपार्जन करता है। और वह कर्म उसे ऐसे संसार समुद्र में डुबाता है जिसका पार पाना कठिन है। उस संसार समुद्र में डूबकर यह जीव कौन दुःख नहीं भोगता है।

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं-

इस जन्म में अथवा परजन्म में शत्रु शत्रुता को छोड़कर मित्र बन जाते हैं। अर्थात् उपकार आदि करने से प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहने के लिए नहीं किन्तु खुले दिल से मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्म में और परजन्म में सदा ही दुःखदायी होते हैं। इसलिए वे शुत्र से भी बड़े शुत्र हैं।

शत्रु एक ही भव में दुःख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवों में दुःख देते हैं।

इस प्रकार के भोगों के दोष जानकर हे क्षपकः तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं-

इस प्रकार जैसे कुएँ की दीवार के एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधु की बुंदों को ही देखता है किन्तु अपने गिरने को नहीं देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगों को तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसार को नहीं देखता।

जैसे मत्स्य भय को न जानते हुए जाल के मध्य में उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसार की चिन्ता न करके परिग्रह आदि में आनन्द मानते हैं।

इन्द्रिय सुख नियम से कुयोनियों में भ्रमण करने का मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग द्वेष की उत्पत्ति में निमित्त है। उन कुयोनियों में उत्पन्न होकर नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करने वाले जीव के दुःखों को, देवगति आदि के भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसा आगे कहते हैं-

जैसे देशान्तर में गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घर को ही जाता है वैसे ही बड़े कष्ट से प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोगकर उन भोगों के नष्ट हो जाने पर नियम से कुयोनि में जाता है।

जैसे मरा हुआ वैद्य मरते हुए की रक्षा नहीं कर सकता। वैसे ही कुयोनियों में जाकर उस दुःख भोगते हुए जीव का स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं? वे उसका किंचित भी दुःख दूर नहीं कर सकते।

जैसे लम्बे धागे से बंधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वहीं लौट आता है वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुख में मन लगाने वाला निदान महान् वृद्धि से सम्पन्न स्वर्गादि स्थानों में जाकर भी संसार में ही लौट आता है।

जैसे कोई जेलखाने में पड़ा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दूँगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेल के रक्षकों को देकर अपने घर में सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेते हैं उसी प्रकार निदान करने वाला अपने द्वारा किये गये पुण्य से स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं-

जैसे धन देकर कारागार से मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घर में रहता है। किन्तु कर्ज चुकाने का समय आने पर पुनः पकड़कर बन्द कर दिया जाता है।

वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्ग में क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँ से च्युत होकर संसार में ही भ्रमण करता है।

संभूत नामक व्यक्ति निदान के द्वारा देवगति के सुख और चक्रवर्ती के सुख को प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहाँ से मरकर ब्रह्मदत चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात् मरकर तिर्यञ्चगति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ।

जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदि को भोग कहते हैं। उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नहीं होती, अनादि संसार में उसे जीव ने अनेक बार भोगा है। अतः उससे मन को हटाकर समस्त कर्मों के अपायरूप मोक्ष में मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तप का पालन करने से कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए। निदान नहीं करना चाहिए।

विस्तार से निदान के दोष बतलाकर निदान न करने में गुण कहते हैं।

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ।। (1277)

निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को विशुद्ध करते हैं। अर्थात् निदान न करने से निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शन के निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है। और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है। तब विशुद्ध ज्ञान चारित्र से सम्पन्न मुनि तप के द्वारा सब कर्मों का क्षय करता है।

उक्त प्रकार से जो वस्तुस्वरूप का विचार नहीं करता उसकी मति निदान करने में लगती है। और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करने में नहीं लगती। आलोचना अधिकार में मायाशल्य के दोष कह आये हैं। और मिथ्यात्व शल्य के दोष पूर्व में कहे हैं। इस प्रकार हे क्षपक! तीनों शल्यों के दोष आप से हमने कहे हैं। अब इन दोषों को जानकर तुम्हें तीनों शल्यों का त्याग करना चाहिए। इससे आचार्य क्षपक के प्रति ऐसा कहते हैं।

मायाशल्य का त्याग न करने से प्राप्त हुए दोष को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं-

पुष्पदन्ता नाम की आर्यिका आर्यिका होने पर भी मायाशल्य के कारण दीक्षा के अभिमुख होने की बुद्धि से लाभ के भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्य के घर में पूतिमुखी नामकी दासी हुई।

धर्मप्रेमी और साधुओं के प्रति वात्सल्यभाव न रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व शल्य दोष के कारण दुःखपूर्ण संसार में भ्रमता हुआ।

विशेषार्थ-यह मरीचिकुमार भरत का पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ। भगवान् आदिनाथ के मुख से अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था।

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्य के द्वारा संस्तुत साधुवर्ग के साथ क्षपक मोक्षनगर में प्रवेश करते हैं-

इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाड़ीपर साधुओं के संघ के साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भाँड के लिए सिद्धिपुरी की ओर प्रस्थान करता है। उस दीक्षारूपी गाड़ी में समितिरूपी बैल जुड़े हैं, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजन से निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी धुरा है। आचार्य उस संघ के नायक है जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्ग में लगाया गया वह आराधक साधु संसाररूपी महावन को पार करता है। वह संघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त उस साधु समुदाय की इन्द्रियरूपी चोरों से और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरों से रक्षा करता है। स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवी के समान बड़े कष्ट से लांघे जाते हैं इसलिए उन्हें अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवी के मध्य में जो साधु प्रमाद दोष से जाता है उसके चारित्ररूपी धन को इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयों को लेकर इन्द्रिय बुद्धि के अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनि के चारित्र को नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्याय में लगाकर प्रमादों को दूर करता है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथन का भाव है।

अथवा उस विषयरूपी अटवी में फँसे हुए लोगों को खाने के इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधु को असंयमरूपी दाढ़ों से और रागद्वेष मोहरूपी दाँतों से खा जाते हैं। कहने का भाव यह है कि निर्यापकाचार्य के अभाव में क्षपक इन्द्रियों और कषायों के फन्दे में फँस जाता है।

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय की प्रवृत्ति अनेक दोषों का मूल है-

जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओं के संघ से बाहर जाता है और मोक्षमार्ग से दूर हो जाता है।

इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होने से सूखपूर्वक समाधि लगा साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।

कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पाश्वर्वती हो जाते हैं। साधु संघ के पार्श्ववर्ती होने से उन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं।

साधु समूह के मार्ग को छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपने को प्राप्त हुए ऋद्धिगौरव, रस और सातगौरव से भरे गहन वन में पड़कर तीव्र दुःख पाते है।

अथवा जैसे विषलै काँटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते है वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी काँटों से बींधे हुए ये पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं।

वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे मुनि के पास जाता है जो चारित्र भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियों का आचरण करता है।

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है? इसका उत्तर देते है-

इन्द्रिय, कषाय और विषयों के कारण रागद्वेष परिणामों और क्रोधादि परिणााम के तीव्र होने से वह चारित्र को तृण के समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप शुभ परिणाम तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं। अतः उसका ज्ञान दूषित होने से वह चारित्र को सार हीन मानता है। इसी से वह उसमें आदरभाव न रखने के कारण चारित्र से च्युत होता है। इसी से उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियों की सेवा में लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनि का कथन है।

अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरों से पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियों के भय से साधु संघ से दूर होकर उन्मार्ग में चले जाते हैं।

साधु संघ से दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वन में उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार मैथुन परिग्रह रूप संज्ञानदी में गिरकर कष्टरूपी प्रवाह में पड़कर डूब जाते हैं।

संज्ञारूप नदी में डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरने का स्थान नहीं मिलता अतः वे बहुत दुःखों से भयानक संसार समुद्र में प्रवेश करते हैं।

संसार समुद्र में प्रवेश करने पर आशारूपी पहाड़ों को लांघते हुए मन-वचन-

काय की दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओं पर लुढ़कते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते हैं।

विशेषार्थ-पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं।

अनेक प्रकार के अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवी में भटकते हुए वे निर्वाण का मार्ग कभी देखा न होने से चिरकालतक वहीं भ्रमण करते रहते हैं।

वे दूर से ही साधु संग को त्यागकर कुमार्ग में दौड़ते हैं। और आगम में कहे कुशील मुनि के दोषों को करते हैं।

इन्द्रिय और कषायरूप परिणामों की तीव्रता के कारण चारित्र को तृण के समान मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशील का सेवन करते हैं।

कोई-कोई मुक्तिपुरी के निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरों के द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जाने पर संयम का अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं।

पश्चात् वे शील से दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है।

अब यथाच्छन्द मुनि का स्वरूप कहते हैं-

साधु संघ से निकलकर जो पूवोचार्यों के द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्ग की अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है।

जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयम के अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व के साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगम का अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। और सम्यग्दर्शन के विना सम्यक्चारित्र नहीं होता।

इन्द्रिय और कषायों की प्रबलता के कारण वह आगम को प्रमाण नहीं मानता और अपनी इच्छा के अनुसार जिन भगवान् के द्वारा कहे गये अर्थ को विपरीत रूप से ग्रहण करता है।

इन्द्रिय और कषायों के दोष अथवा सामान्य योग से विरक्त होकर जो चारित्र से गिर जाता है वह साधु संग से अलग हो जाता है।

अब संसक्त मुनि का स्वरूप कहते हैं-

इन्द्रिय और कषाओं के वश में हुए कोई मुनि उन सब दोषों में संसक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामों को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार ये पाँच प्रकार के मुनि जिन भगवान् के द्वारा आगम में निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायों की प्रबलता होने से नित्य ही जिनागम से विमुख रहते हैं।

इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मा में उपद्रव पैदा करते हैं। अनवस्थित होने से चपल हैं। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीव के चारित्र मोह के क्षयोपशम का प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्ट से इन्हें वश में कर पाता है। तथा इनका कारण चारित्रमोह का उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं।

शंका-यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं?

समाधान-नित्य शब्द का प्रयोग ध्रौव्य के अर्थ में नहीं है किन्तु बार-बार के अर्थ में है। और परिणामों के स्थिर न होने को चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है।

तथा ये जीवों को दुःखदायी हैं। इष्ट भोग की प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोग का विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियों को अनुभव सिद्ध है। क्रोधादि कषाय हृदय संताप पहुंचाती है। अथवा दुःख का कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्ध में निमित्त इसलिए दुःखदायी हैं। जो इन्द्रिय और कषाय के वश में होता है वह जीवों का घात करता। जीवों के दुःख देने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है। यतः ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं।

गा.-जैसे बकरी का बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयम को त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्ध को नहीं छोड़ पाते।

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतों को ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणाम वाले होते हैं। भव्य जीव भी गुरु के उपेदश से गृहस्थाश्रम

का परित्याग करते समय दुःख की निवृत्ति का उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामों का त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हीं के चक्र में पड़ जाता है।

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तों के द्वारा इसी को दर्शाते हैं-

जैसे व्याघ के भय से भागा हुआ हिरन अपने झुण्ड को जाल में फँसा देखकर मोह से स्वयं भी जाल में फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागने के बाद स्वयं ही उसमें फंस जाता है।

जैसे पींजरे से मुक्त हुआ पक्षी उद्यानों में स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवास के प्रेमवश पींजरे में चला जाता है।

जैसे महती कीचड़ में फँसा हाथी का बच्चा बलवान् हाथी के द्वारा निकाला गया किन्तु पानी की प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़ में फँस जाता है।

जैसे पक्षी आग से घिरे वृक्ष से उड़कर स्वयं ही अपने घोंसले के कारण उस वृक्षपर जा पहुंचता है।

जैसे किसी सोते हुए मनुष्य पर से सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्प को पकड़ना चाहता है।

जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजन को भोजन की तृष्णावश लोलुपता से खाता है।

वैसे ही गृहवास के दोषों से मुक्त दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवास के उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषों को स्वीकार करता है। गृहवास को बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं-

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भाव का अधिष्ठान है, कषायों की खान है, दूसरों को पीड़ा देने अनुग्रह करने में तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पति में उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन काय से सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्यों के ग्रहण और बढ़ाने के लिए उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असार में सारता, अनित्यता में नित्यता, अशरण में शरणता, अशुचि में शुचिता, दुःख में सुखपना, अहित में हितपना, अनाश्रय में आश्रयपना, शत्रु में मित्रता मानता हुआ सब और दौड़ता है। भय और शंका से युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है। जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहे के पींजरे के पेट में गये सिंह

की तरह, जाल में फसे हिरणों की तरह, अन्यायरूपी कीचड़ में फँसे बूढ़े हाथी की तरह, पाश से बद्ध पक्षीकी तरह, जेल में बन्द चोर की तरह, व्याघ्रों के मध्य में बैठे हुए दुर्बल हिरण की तरह, जिसके पास में जाने से संकट आया है ऐसे जाल में फँसे मगरमच्छ की तरह, जिस गृहस्थाश्रम में रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढ़े अन्धकार के पटल से आच्छादित हो जाता है। रागरूपी महानाग उसे सताते हैं। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भेड़िये उसके पीछे लगे रहते हैं। कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है। दुराशारूपी लताओं से वह ऐसा बंध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता। प्रिय का वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकड़े कर डालता है। प्रार्थना करने पर न मिलने रूपी सैकड़ों बाणों का वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकस में बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रम में वांछित वस्तु का लाभ न होनेरूपी बाण भरे हैं। मायारूपी बुढ़िया उसे जोर से चिपकाये रहती है। तिरस्कार रूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते हैं। अपयशरूपी मल से वह लिप्त होता है। महामोहरूपी जंगली हाथी के द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घात के द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है। भयरूपी लोहे की सुइयों से कोचा जाता है। प्रतिदिन श्रमरूपी कौओं के द्वारा खाया जाता है। ईर्ष्यारूपी काजल से विरूप किया जाता है। परिग्रहरूपी मगरमच्छों के द्वारा पकड़ा जाता है। जिस गृहस्थाश्रम में रहकर असंयम की ओर जाता है असूयारूपी पत्नी का प्यारा होता है अर्थात् दूसरों के गुणों में भी दोष देखता है, अपने को मानरूपी दानव का स्वामी मानने लगता है। विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रों की छाया का सुख उसे नहीं मिलता। वह अपने को संसाररूपी जेल से नहीं छुड़ा पाता। कर्मों का जड़मूल से विनाश नहीं कर पाता। मृत्युरूपी विषवृक्ष को नहीं जला पाता। मोहरूपी मजबूत साँकल को नहीं तोड़ता। विचित्र योनियों में जाने को नहीं रोक पाता। दीक्षा धारण कर इस प्रकार के गृहवास सम्बन्धी दोषों से मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषों को स्वीकार करता है।

जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायों के बन्धन में पड़ता है वह अज्ञानी बन्धन से मुक्त होकर पुनः बन्धन को प्राप्त होता है।

जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलि को स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकाल से मुक्त होकर भी पुनः उसी कलि को खोजता है।

जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायों के बन्धन में पड़ता है वह हाथ में स्थित जलते हुए अलात को छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँप को लाँघता है और भूखे व्याघ्र का स्पर्श करता है।

जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषाय के अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गले में पत्थर बाँधकर अगाध तालाब में प्रवेश करता है।

तीर्थेश्वरा जगज्येष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना।
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे।।

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी है तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र का पालन करते हैं।

जदि ण वि कुव्वदि छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो स।
कालेणदुबहगेणविणसोणरोपावदिविमोक्खं।। (289) (स. सार.)
जहं बंधे छेत्तूण य बंधण बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तुण य जीवो संपावदि विमोक्खं।। (292)

कोई एक पुरुष धातु निर्मित शृंखला से बंधनबद्ध होकर पड़ा है, वह उस शृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुणधर्म के बारे में जानता है, और मनन चिंतवन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है जब तक कि वह बंधन को छेदन, भेदन, खण्डन नहीं करेगा। उसी प्रकार संसारी जीव कर्मरूपी बंधन में पड़ा है। वह विषय को जानता है, मानता है और बंधन से मुक्त होने के लिए चिंतन-मनन भी करता है, परन्तु जब तक कर्मबंधन को नष्ट करने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे रज्जु (रस्सी), लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोड़कर-फोड़कर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है। उसी प्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प, स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर, तोड़कर, नष्ट कर विदारण कर अपने शुद्धात्मा को उपलंभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है वही परम पुरषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति का मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, अवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकांत नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार, भ्रष्टाचार का पोषक है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धन-संपत्ति के लिए व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिए विवाह, रोग निवारण के लिए औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिए विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार संपूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरूप का अयथार्थ श्रद्धान एवं आत्म स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्मबंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिए मूल हेतु है।

मिथ्यात्व में बंध

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय योगः बंधहेतवः''

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। ''त एते पञ्च बंध हेतवः, समस्ता व्यस्ताञ्च भवन्ति तद्यथा मिथ्याउदृष्टेःपञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति'' ये पाँचों स्वतंत्र बंध के हेतु हैं और समुदाय से भी बंध के कारण हैं। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि 16 प्रकृतियों का बंध होता है। उसके आगे बंध व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत्त हुंड संढाऽसंपत्तेयक्ख थावरादावं।

सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे।। (95) (कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी और नरकायु इन 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा।। (10)(समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्त्ता है। अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव में होता है उसके माध्यम से पुनः नवीन कर्मबंध होता है।

इसी प्रकार अविरति आदि से जानना चाहिए। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिए कारण नहीं है ? अवश्य कारण है किन्तु प्रमाद को कषाय में अंतर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में ''जोगा पयडि पदेसा ट्ठिदि अणुभाग कसायदो होदि'' इसमें कषाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया है। तो क्या मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है ? अवश्य है, किन्तु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अंतर्भूत कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत-दीपक है, इसलिये उसके पहले-पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये हैं।

सूत्र-

सव्वतिव्वाणुभागा मिच्छातस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा।

अणंताणुबंधीणमण्णदा उक्कस्साणु भागुदीरणा तुल्ला अणंता गुण हीणा।

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। इससे अनंतानुबंधियों की अन्यत्तर(कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंतगुणी हीन है।

शंका- मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है ?

समाधान- ''सव्व दव्व विसय सद्दहण गुण पडि बंधित्तादो।''

अर्थ- सर्व द्रव्य, विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो अवसाम यस्स बोधव्वो।

उवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो।। (धवलः)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व

निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि 40 कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) 70 कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति प्रमाण दर्शन मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि केवल कषाय को ही स्थिति बंध का कारण मानेंगे तो दर्शन मोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के द्वारा होने पर 70 कोड़ा-कोड़ी सागर का और मिथ्यात्व में 16 प्रकृतियों का जो बंध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनन्त संसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानबंधी क्रोध, मान, माय, लोभ कषाय आत्मनः,सम्यक्त्व परिणाम कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्तं-मिथ्यात्वं, अनंतभव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति सुघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धित इति।। (गो.सार)

अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणामों को घातती है क्योंकि अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते है। यह अनंतभव के संस्कार काल को बाँधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते है। एक क्षण के लिए भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है। अतः-

न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्ये तिजगत्यपि।

श्रयोऽश्रेयञ्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनुभृताम्।। (34) (रत्नकरण्ड)

In the three periods of time and three worlds there is nothing more auspicious than right Faith for the living beings, nor any thing more inqacious than a false conviction.

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिए अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

गुणस्थानों में 24 स्थान

मिथ्यात्व गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	मिथ्यात्व
1.	गुणस्थान	14	1 मिथ्यात्व गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	14
3.	पर्याप्ति	6	4/5/6 पर्याप्तियाँ, 4/5/6 अपर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	4/6/7/8/9/10 पर्याप्त
5.	संज्ञा	4	4
6.	गति	4	4
7.	इन्द्रिय	5	1,2,3,4,5
8.	काय	6	6
9.	योग	15	13 आहारकद्विक बिना
10.	वेद	3	3
11.	कषाय	25	25
12.	ज्ञान	8	3 कुज्ञान
13.	संयम	7	1 असंयम
14.	दर्शन	4	2 (चक्षु. अचक्षु)
15.	लेश्या	6	6
16.	भव्य	2	2 (भव्य, अभव्य)
17.	सम्यक्त्व	6	1 मिथ्यात्व
18.	संज्ञी	2	2 (संज्ञी, असंज्ञी)
19.	आहारक	2	2 (आहारक, अनाहारक)
20.	उपयोग	12	5 (3 कुज्ञान + 2 दर्शन)
21.	ध्यान	16	8 (4 आर्त्तध्यान + 4 रोद्रध्यान)
22.	आस्रव	57	55 (आहारकद्विक बिना)
23.	जाति	84 लाख	84 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	197 1/2 लाख कोटि

एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के पर्याप्त-अपर्याप्त जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में पाये जाते हैं, अतः यहाँ 14 जीव समास होते हैं।

पर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के क्रमशः 4/5/6 पर्याप्तियाँ होती हैं।

उपर्युक्त जीवों की निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था एवं लब्धपर्याप्त अवस्था में क्रमशः 4/5/6 अपर्याप्तियाँ होती है। विग्रहगति में भी अपर्याप्त अवस्था के समान ही अपर्याप्तियाँ घटित होती हैं, क्योंकि विग्रहगतिस्थ जीवों को अपर्याप्त जीवों के अंतर्गत ही ग्रहण किया है। इस प्रकार विग्रहगति में क्रमशः 4/5/6 अपर्याप्तयाँ होती है।

पर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा क्रमशः 4/6/7/8/9/10 प्राण पाये जाते हैं।

निर्वृत्यपर्याप्त एवं लब्ध्यपर्याप्त अवस्था में मनबल, वचनबल और श्वासोच्छवास प्राण बिना क्रमशः 3/4/5/6/7/7 प्राण होते हैं। विग्रहगति में भी अपर्याप्त अवस्था के समान ही प्राण घटित होते हैं।

जीवों की 2 प्रकार की अवस्था होती है। विग्रहगतिस्थ जीवों की अपर्याप्त अवस्था से निकटता होने से उन जीवों में अपर्याप्त अवस्था के समान प्राण होते हैं। 5 इन्द्रिय प्राण, कायबल एवं आयु प्राण का पर्याप्तियों के साथ कार्य-कारण संबंध नहीं है, अतः विग्रहगति की अपर्याप्त अवस्था में 3/4/5/6/7/7 प्राण होते हैं।

आहारक शरीर के निमित्त से होने वाले उपर्युक्त दोनों योग प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती मुनिराज के होते हैं, अतः यहाँ ये दोनों योग नहीं है।

नाना जीवों की अपेक्षा एक समय में इस गुणस्थान में 25 कषाय होती हैं।

पर्याप्त-निर्वृत्यपर्याप्त नारकी जीवों में 3 शुभ लेश्या नहीं होती हैं।

पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य के मिथ्यात्व गुणस्थान में 3 शुभ लेश्या होती हैं। अपर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्य के इस गुणस्थान में तीन शुभलेश्या नहीं होती है।

भवनत्रिक देवों की निर्वत्यपर्याप्त अवस्था के अतिरिक्त शेष देवों की पर्याप्त-निर्वत्यपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में 3 शुभ लेश्या होती हैं।

अभव्य जीव मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं।

भव्य जीव प्रथम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं, अतः यहाँ दोनों घटित होते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान सहित जीवों का मरण एवं उत्पत्ति दोनों होते हैं, अतः विग्रहगति की अनाहारक अवस्था में यह गुणस्थान होता है। विग्रहगति के पश्चात् आहारक अवस्था में भी यह गुणस्थान होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों अवस्थाएँ होती है। (गुणस्थान मार्गणा...) **आर्यिका प्रशांतमती**

उपशम भाव का कार्य (कर्मक्षय व संवर)

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पविसुदु णोदेइ अहिणवं कम्मं।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो।। 56 रयण.

पद्यभावानुवाद -

पूर्व स्थित कर्म को क्षपण करता अभिनव कर्मों को न आने देता।
इह परलोक महात्म्य को देता ऐसा उपशम भाव होता।।

पात्र-अपात्र का विवेक आवश्यक

पत्त विणा दाणं य सुपुत्त विणा बहुधनं महाखेत्तं।
चित्त विणा वय गुण चारित्तं णिक्कारणं जाणे।। (31) रयण.

पद्य- **सुपात्र बिना दान होता है यथा सुपुत्र बिन बहु धन-धान्य।**
उत्तम भाव बिन व्रत गुण चारित्र होते हैं सभी निरर्थक ।। (1)

समीक्षा- **कुपात्र को दिया हुआ दान तथा सुपुत्र बिना वैभव।**
होते हैं सभी निरर्थक यथा सुभाव बिन व्रत गुण चारित्र।।(2)

इससे मिलती है महान् शिक्षायें सुपात्र को ही दान देय।
सुपुत्र को ही धन देय सुभाव से ही व्रत-गुण-चारित्र पालनीय(3)

निर्माल्य द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम

जिण्णुद्धार पतिट्ठा जिणपूजा तित्थवंदण विसयं धणं।
जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगय दुक्खं।। (32) रयण.

पद्य- **जीर्णोद्धार प्रतिष्ठा जिनपूजा तीर्थ वन्दना के धन।**
जो खाता वह भोगता है जिनोक्त नरक गति दुःख।। (1)

समीक्षा- दान-पूजादि निमित्त देय दान तथाहि धार्मिक सम्पत्ति।
वे सब ही निर्माल्य द्रव्य उसे खाने से पाते दुर्गति।। (2)
केवल नहीं है पूजा में प्रयोग किया गया द्रव्य निर्माल्य द्रव्य।
किन्तु समस्त धार्मिक द्रव्य होते हैं निर्माल्य द्रव्य जो अग्राह्य।। (3)
इससे शिक्षा मिले कोई भी धार्मिक धन नहीं है ग्रहणीय।
रूढ़ि से पूजा द्रव्य को ही मानकर धार्मिक धन नहीं ग्रहणीय।। (4)

परस्त्रीगमनं नूनं देवद्रव्यस्य भक्षणं।
सप्तमं नरकं यांति प्राणिनो नात्र संशयः।। (प्र.चा.)

परस्त्री सेवन करने से और देव द्रव्य को हजम कर जाने से मनुष्य सातवें नरक को प्राप्त होता है। यदि समस्त पाप एक तरफ रक्खे जावें और परस्त्रीसंगम रूप पाप दूसरी बाजू रक्खा जाए,तो पर दारा सेवन का पाप समस्त पापों की अपेक्षा वजनदार निकलेगा, ऐसा शास्त्रों में लिखा हैं।

पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिये, नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये, कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता। स्पष्ट बात यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को स्नान कर लूँगा का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्र दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुये धन की प्राप्ति हो जाय, तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

''सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती है। वर्षा में गंदले पानी से भी भरी रहती है।''

उपर्युक्त कारणों से सिद्ध होता है कि पूजक को पहले स्वयं में योग्यता लानी चाहिए। श्रावक के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा भी है -

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सदगीस्त्रिवर्ग भजन्न
न्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो हीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्म चरेत्।।

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला गुणों,गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर, सत्कार करने वाला परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म, अर्थ और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकान वाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खान-पान और गमनागमन करने वाला सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये गये उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु और पापभीरू पुरुष गृहस्थ धर्म को पालन करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त श्रावकों के गुण में प्रथम गुण है ''न्यायपूर्वक धन कमाना'' श्रावक हेतु गृह में रहता है व्यापार धन्धा करता है इसलिए उसको धन की आवश्यकता पड़ती है। तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिए।

स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जनरहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है। क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायःकर वित्तोपार्जन में ही लगी रहती है। इसलिये धनेच्छुक मनुष्य यद्वा तद्वा न्याय अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एकदेशव्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है ।

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।
स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः।।

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बलगर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी

प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं। और भी आचार्यों ने कहा है -

अन्यायोपार्जितं वित्त दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।। (1)
यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायतां।
अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।।(2) सा.ध.

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवें वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यंच भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरों की तो बात ही क्या है। इसलिये न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिये।

परन्तु वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके धन कमाते हैं और उससे दानादि करके धर्म करना चाहते हैं। जैसे कुछ व्यक्ति स्वयं तो शराब नहीं पीते किन्तु शराब की फेक्ट्रियाँ, दुकानें चलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं तो बीड़ी नहीं पीते परन्तु बीड़ी की फेक्ट्री में बीड़ी बनवाते हैं व दुकान पर बेचते हैं। कुछ व्यक्ति खुद तो मांस नहीं खाते किन्तु डालडा में चर्बी मिलाकर दूसरों को खिलाते हैं कुछ व्यक्ति स्वयं चर्म निर्मित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते परन्तु चर्म की विभिन्न सामग्रियाँ यथा जूते, चप्पल, बेल्ट,सूटकेस, मनी बैग आदि का निर्माण करके विक्रय करते हैं। वे सोचते हैं कि हम तो स्वयं नहीं खाते प्रयोग में भी नहीं लाते, हम तो केवल धन कमाने के लिये, व्यापार रूप में प्रयोग लाते हैं इसमें हमारा क्या दोष ? परन्तु उन्हें जान लेना चाहिये कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता है परन्तु पाप मनसा, वचसा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना से भी होता हैं। उनका सोचना ऐसा है कि हम विष पीते नहीं पिलाते हैं यह क्या दोषकारक है ? परन्तु विवेक से विचार करने पर सिद्ध होता है कि विष पीने से तो स्वयं एक की ही हत्या होती है परन्तु विष पिलाने से अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है। इस प्रकार मांस खाने से, बीड़ी, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से तो स्वयं पाप कमाता है परन्तु

इसके उत्पादन एवं विक्रय करने से तो स्वयं भी पाप कमाता है एवं दूसरों से भी पाप करवाता है, हिंसा करवाता है। इन हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ-साथ पर्यावरण भी दूषित हो जाता है। विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हिंसा व अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिये उपर्युक्त निषिद्ध व्यापार जो करता है वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। प्राचीन धार्मिक साहित्य में अनेक निषिद्ध व्यापारों का वर्णन पाया जाता है। यथा -

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पंचदश त्यजेत्।

वृत्तिं वनाग्न्यस्फोटभाटकैर्यत्रपीऽनम्। (21) सागर धर्मामृतम्

प्रभावना - प्रकृष्ट/उत्कृष्ट/उदार/निर्मल/पवित्र/साम्य भाव को प्रभावना कहते हैं। प्रभावना पहले स्वयं में होती है, उसके अनन्तर उसका प्रचार-प्रसार विभिन्न माध्यम से किया जाता है। रत्नत्रय रूपी प्रकाश को पहले स्वयं में प्रकाशित करना चाहिए उसके बाद दूसरों को प्रकाशित करना चाहिए। जैसे जो दीपक स्वयं पहले प्रकाशित होता है वही दीपक दूसरों को प्रकाशित करता है। बुझा हुआ दीपक न स्वयं को प्रकाशित कर सकता है न दूसरों को प्रकाशित कर सकता है। प्रभावना के अनेक कारक/कारण/उपाय होते हैं। जैसे दान, पूजा, उपवास, ज्ञान/उत्सव/सांस्कृतिक कार्यक्रम/रथयात्रा/पंचकल्याणक/वेदी प्रतिष्ठा/तीर्थयात्रा/सत्साहित्य/धार्मिक पत्रिका आदि आदि। परन्तु पवित्र/प्रकृष्ट भावना या महान-उदार उद्देश्य के बिना उपरोक्त कारक/कारण भी वस्तुतः प्रभावना के अंग/उपाय नहीं बन सकते हैं। जैसे अंकुरोत्पत्ति शक्ति से रहित बीज को कितना भी पानी, खाद, औषध देने पर भी उस बीज से अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती है। अन्तरंग अच्छी भावना से रहित बाह्य प्रभावना की शोभा उसी प्रकार है जिस प्रकार शव-यात्रा की शोभा है। नाम बढ़ाई काम के लिये जो दानादि बाह्य प्रभावना करते हैं उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

कुछ व्यक्ति माता-पिता-भाई-बहन की सेवा/सुश्रुषा/व्यवस्था के लिए तो बेपरवाह हैं, यहाँ तक कि अपने ग्राम, नगर में आगत उत्तम पात्र स्वरूप मुनि, आर्यिका आदि को दान-मान-सम्मान नहीं देता है, ग्राम के मंदिर में पूजा, दर्शनादि नहीं करता है वो भी पंचकल्याणकादि में भीड़ देखकर लाखों रूपयों की बोली लेता है।

देवदर्शन तीर्थयात्रा, पूजा, पंचकल्याणकादि का मुख्य उद्देश्य स्वदर्शन, अन्तर्यात्रा, स्वकल्याणक के लिये है। अभी अनेक व्यक्ति धर्मकार्य को धनकार्य, परमार्थ को अर्थोपार्जन उपाय रूप में प्रयोग कर रहे हैं। अभी पंचकल्याणक तो पंचों के कल्याण (कमेटी वालों की स्वार्थ सिद्धि) रूप में हो रहा है। वहाँ विशेषता, धर्म के नाम पर धन की पूजा, धर्मी के नाम पर धनी की पूजा, प्रभावना के नाम पर बाह्य-आडम्बर, मनमंजन(भाव निर्मल के स्थान पर मनोरंजन (बैण्ड पार्टी, संगीत-नाटक कार्यक्रम के अतिरेक) पंचकल्याण की मूल क्रिया के स्थान पर बोली, धनी व्यक्तियों की मान-सम्मान की क्रिया होती है। धार्मिक कार्य के नाम पर पहले शोषण भी करते हैं और जो यात्री उस कार्यक्रम में आते है उनकी व्यवस्था नहीं करते हैं और व्यवस्था धनी की करेंगे तथा साधारण व्यक्ति की करेंगे तो शोषण करने के लिए। उसी ही प्रकार बड़े-बड़े तीर्थस्थान की भी महिमा है।

जो व्यक्ति बोली में लाखों रूपयें खर्च करते हैं वे भी सत्साहित्य प्रकाशन, प्रचार-प्रसार के लिए, बच्चों के धार्मिक संस्कार के लिए, धार्मिक विद्यालय-शिविर के लिए 10-20 रूपये भी दान में नहीं देंगे। मंदिर, धर्मशाला, मूर्तिनिर्माण, पंचकल्याण जरूर करना चाहिए परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक है ज्ञान-प्रचार, बच्चों में संस्कार, स्वयं का निर्माण।

आज जैन लोग करोड़ों, अरबों रूपये निर्जीव मूर्ति के भगवान् बनाने में खर्च करते हैं परन्तु हजारों रूपये भी सजीव बच्चों को संस्कार से महामानव या भगवान् बनाने में खर्च नहीं करते हैं। मैं मंदिर, मूर्ति पंचकल्याणक का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु व्यर्थ खर्च, बाह्य आडम्बर का अवश्य विरोधी हूँ। कुछ त्यागी-व्रती, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, और पंडित, प्रतिष्ठाचार्य भी आडम्बर बोली आदि आगम विरुद्ध कार्य को करते, करवाते हैं। उनकी निन्दा जैन पत्रिकाओं तक में बार-बार आती हैं परन्तु वे वैसे कार्य समाज के लिए करके निन्दा के पात्र बनते हैं। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्ति भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधु का इस्तेमाल करते हैं एवं स्वार्थ सिद्धि के बाद वे भी उन साधु आदि की निन्दादि करते हैं तथा साधु की सेवा/व्यवस्था भी नहीं करते हैं।

पूजा-दान आदि के द्रव्य के अपहरण का परिणाम

पुत्तकलत्त विदूरो दारिद्दो पंगु मूक बहिरंधो।
चाण्डालाइ कुजादो पूजा दाणाइ दव्वहरो।। (33) रयण.

पद्य-जो पूजा दानादि के द्रव्य हरण करते वे होते पुत्र स्त्री-रहित।
दरिद्र-पंगु-गुंगा बहरा अन्धा व चाण्डालादि कुजाति में जन्म ग्रहण।(1)

समीक्षा- ''जैसी करणी वैसी भरणी'' के अनुसार कर्म फल मिलता अवश्य।
इस जन्म में या पर भव में भोगते पापी जो दान द्रव्य हर।। (2)

न्याय से धन कमाने पर भी यदि होता है पापास्रव।
अन्याय से व धर्म धन ग्रहण से कितना होगा पापास्रव।। (3)

इससे शिक्षा मिलती है सर्व त्यागकर साधु बनना श्रेय।
नहीं तो कम से कम पाप हो ऐसे भाव-व्यवहार श्रेय।। (4)

पूजा-दान के द्रव्य का अपहरण बीमारियों का घर

इत्थियफलं ण लब्भइ जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं।
वाहीणमायरो सो पूजादाणाइ दव्वहरो।। (34) रयण.

पद्य- जो दानादि द्रव्य हरण करता वह न इच्छित फल पाता।
यदि भी वह लाभ प्राप्त करता रोगादि के कारण न भोग पाता।। (1)

समीक्षा- ''साधन पवित्र से साध्य पवित्र'' होता ''लक्ष्यानुसार प्राप्य''।
''शुभ भाव से शुभ फल है'' तो ''अशुभ भाव से अशुभ फल।। (2)

''चोरी का माल मोरी में जाता'' ''यथा बोया तथा पाता''।
यह है ''प्राकृतिक क्रिया प्रतिक्रिया'' या ''कार्य कारण सिद्धान्त''।। (3)

दान द्रव्य के अपहरण से विकलांग

गयहत्थपायणासिय कण्णउरं गुलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूयादाणाइ दव्वहरो।। (35) रयण.

पद्य- हाथ पैर से रहित पंगु नाक व कानों से भी रहित।
छाती-हाथ-पैर-अंगुल विहीन जन्मांध तीव्र दुःखी द्रव्य चोर।।

अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता।। (44)
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम्।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम्।। (45)
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधुपादिमोषणम्।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम्।। (46)
परूषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः।। (47) (तत्त्वार्थसार)

मन, वचन, काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त का अस्थिर रहना, विष के प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वन में आग लगाने की प्रवृत्ति चलाना, मंदिर सम्बन्धी उद्यान के भवन का विनाश करना,प्रतिमा को चढ़ाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदि की चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कठोर और असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्य वृद्धि के लिये वशीकरण आदि उपायों को मिलाना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

योगवक्रताविसंवादनं चाऽशुभस्यःनाम्नः।।(122)।। (तत्त्वार्थवार्तिक)

मन, वचन और काय की कुटिल वृत्ति रूप योगवक्रता तथा विसंवादन ये अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है।

मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, कूटमान तुलाकरण(झूठे बाट, तराजू रखना) कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अंग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण,गन्ध,रस, स्पर्श का विपरीतपना अर्थात् स्वरूपविकृति कर देना, यन्त्र पिंजरा आदि पीड़ा कारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का विषय सम्बन्ध करना, माया की बहुलता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, उज्ज्वल वेष और रूप का घमण्ड करना, कठोर और असभ्य भाषण करना क्रोध भाव रखने और अधिक बकवाद करने में

अपने सौभाग्य का उपभोग करना, दूसरों को वश करने के प्रयोग करना, दूसरे में कुतूहल उत्पन्न करना, बढ़िया-बढ़िया आभूषण पहनने की चाह रखना, जिनमंदिर-चैत्यालय से गन्ध(चन्दन) माल्य, धूप, आदि को चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना, उपहास करना, ईंट चूने का भट्टा लगाना, वन में अग्नि लगाना, प्रतिमा का प्रतिमा के आयतन का अर्थात् चैत्यालय का और जिनकी छाया में विश्राम लिया जाये ऐसे बाग-बगीचों का विनाश करना, तीव्र, क्रोध, मान, माया और लोभ करना तथा पाप कर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातों से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

शुभनाम के आस्रव के कारण

संसार भीरुता नित्यमविसंवादनं तथा।

योगानां चार्जव नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः।।(48) (तत्त्वार्थसार)

संसार से निरन्तर भयभीत रहना, सहधर्मी जनों के साथ विसंवाद विरोध नहीं करना और योगों की सरलता रखना वे शुभनाम कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

तद् विपरीतं शुभस्य।।(23)

योग वक्रता और विसंवादन से विपरीत योगों की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। (रा.वा.)

सरल योग और अविसंवादन उस योगवक्रता आदि से विपरीत हैं। मन, वचन, काय की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण है। धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना, आदर सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार भीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र का पालन आदि पूर्वोक्त अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण से विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। इन सब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों का 'च' शब्द से संग्रह होता है ऐसा समझना चाहिये।

पूजा-दानादि धर्मकार्यों में अन्तराय करने का फल

खयकुट्ठमूलसूलो लूयभयंदरजलोयरक्खिसिरो।

सीदुण्ह वाहिराइ पूयादाणांतरायकम्मफलं।।(36) रयण.

पद्य- क्षय-कुष्ठ-मूल-शूल लूला भगन्दर जलोदर खिसर।
शीत-उष्ण-व्याधि(आदि) रोग प्राप्त करे पूजा दान द्रव्य हर।।(1)

भोग भूमिज के योग्य कर्म

भक्त्योत्तमसुपात्रायान्नदानं ददतेऽत्र ये।
महाभोगसुखाकीर्णां भोगभूमिं व्रजन्ति ते।।(95)

जो पुरुष भक्ति से उत्तम सुपात्रों को यहाँ पर आहारदान देते हैं, वे महान् भोगों और सुखों से भरी हुई भोगभूमि को जाते हैं। (श्री वीरवर्धमानचरिते)

नपुंसक होने योग्य कर्म

अतीवकामसेवान्धाः परदारादिलम्पटाः।
अनङ्गक्रीडनासक्ता निःशीला व्रतवर्जिताः।।(100)
नीचधर्मरता नीचा नीचमार्गप्रवर्तिनः।
ये ते नपुंसकाः स्युश्च क्लीबवेदवशाज्जडाः।।(101)

जो पुरुष काम-सेवन में अत्यन्त अन्ध(आसक्त) होते हैं, पर स्त्री-पुत्री आदि में लम्पट हैं, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीडा में आसक्त रहते हैं, शील रहित हैं, व्रत रहित हैं, नीच धर्म में संलग्न है, नीच हैं, और नीच मार्ग के प्रवर्तक हैं ऐसे जड़ जीव नपुंसकवेद के वश में नपुंसक होते हैं। (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

तदहं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणु कल्याणि कारणम्।
ये पुरा मनुजा भूत्वा घोरकर्मरतास्तथा।
पशुपुंस्त्वोपघातेन जीवन्ति च रमन्ति।
एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्मं गतास्तु ते।।
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये।
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेस्ते तथाविधाः।
क्लीबा वर्षवराश्चैव षण्डकाश्च भवन्ति ते।।

श्री महेश्वर ने कहा- कल्याणि! मैं वह कारण तुम्हें बताता हूँ, सुनो! जो मनुष्य पहले भयंकर कर्म में तत्पर होकर पशु के पुरुषत्व का नाश करने अर्थात्

पशुओं को बधिया करने के कार्य-द्वारा जीवन-निर्वाह करते और उसी में सुख मानते हैं। प्रिये! ऐसे आचरण वाले मनुष्य मृत्यु को पाकर यमदण्ड से दण्डित हो चिरकाल तक नरक में निवास करते हैं, यदि मनुष्य जन्म धारण करते हैं तो वैसे ही कायर, नपुंसक और हीजड़े होते हैं।

स्त्रीणामपि तथा देवि यथा पुंसां तु कर्मजम्।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि।।

देवि! जैसे पुरुषों को कर्म जनित फल प्राप्त होता है। उसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यह विषय मैंने तुम्हें बता दिया। अब और क्या सुनना चाहती हो। (महाभारत)

तिर्यग्गति के योग्य कर्म

मायाविनोऽतिकौटिल्यकर्मकोटिविधायिनः।
परश्रीहरणसक्ता अष्टप्रहरभक्षकाः।।(73)।।
महामूर्खाः कुशास्त्रज्ञाः पशुवृक्षादिसेविनः।।
नित्यस्नानकराः शुद्धयै कुतीर्थगमनोद्यताः।।(74)।।
जिनधर्मबहिर्भूता व्रतशीलादिदूरगाः।
निन्द्याः कपोतलेश्याढया आर्तध्यानकराः सदा।।(75)।।
इत्याद्यपरदुष्कर्मरता ये मूढमानसाः।
आर्तध्यानेन ते प्राप्य मरणं दुःखविह्वलाः।।(76)।।
तिर्यग्गतीः प्रगच्छन्ति बह्वीर्दुःखखनीर्दुतम्।
मरणोत्पत्तिसंपूर्णाः पराधीनाः सुखच्युताः।।(77)।।

जो मायाचारी हैं, अतिकुटिलता युक्त कोटि-कोटि कार्यों के विधायक हैं, पर लक्ष्मी के अपहरण करने में आसक्त हैं,दिन -रात के आठों पहरों में खाते-पीते रहते हैं, महामूर्ख हैं, खोटे शास्त्रों के ज्ञाता हैं, धर्म मानकर पशुओं और वृक्षों की सेवा पूजा करते हैं। शुद्धि के लिये नित्य स्नान करते है, कुतीर्थों की यात्रार्थ जाने को उद्यत रहते हैं जिन धर्म से बहिर्भूत हैं, व्रत शीलादि से दूर रहते हैं, निन्दनीय है, कपोत लेश्या से युक्त हैं, सदा आर्तध्यान करते रहते हैं, तथा इसी प्रकार के

अन्य दुष्कर्मों के करने में जो मूढ़चित्त पुरुष संलग्न रहते हैं, वे आर्तध्यान से मरण कर दुःखों से विह्वल होकर बहुत दुःखों की खानरूप तिर्यग्गति में जाते हैं, जहाँ पर वे उत्पत्ति से लेकर मरण-पर्यन्त पराधीन और दुःखी रहते हैं। (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

निगोद के योग्य कर्म

नास्तिका ये दुराचाराःपरलोकं वृषं तपः।
वृत्तं जिनेन्द्राशास्त्रादीन् मन्यन्ते न च दुर्धियः।। (78)।।
तेऽत्यन्तविषयासक्तास्तीव्र मिथ्यात्वपूरिताः
अन्तातीतं निकोतं प्रयान्ति दुःखकैसागरम्।। (79)।।
अनन्तकालपर्यन्तं महादुखं वचोऽतिगम्।
भुञ्जन्ति तत्र ते पापान्मरणोत्पत्तिजं खलाः।। (80)।।

जो नास्तिक हैं, दुराचारी है, परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र शास्त्र आदि को नहीं मानते हैं, दुर्बुद्धि हैं, विषयों में अत्यन्त आसक्त हैं, तीव्र मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, ऐसे जीव अनन्त दुःखों के सागर ऐसे निगोद को जाते हैं। और वहाँ पर वे पापी अपने पाप से अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत जन्म-मरण-जनित महादुःखों को भोगते हैं।

नैःशील्यं निर्व्रत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम्।। (35।)।
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कमोत्पादनं तथा।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम्।। (36)।।
सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितः।
वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा।। (37)।।
तक्रक्षीरघृतादीनामन्य द्रव्यविमिश्रणम्।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा।। (38)।।
कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम्।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः।। (39)।।

शील रहित होना, व्रत रहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना मिथ्यात्व से रहित अधर्म का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर को बनाना, झूठे नापतौल के बाट तराजू तथा कूट आदि को चलाना, नकली स्वर्ण तथा मोती आदि को बनाना, वर्ण, गन्ध, रस आदि को बदलकर अन्यरूप देना, छाँछ दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों को मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषयाभिलाषा को उत्पन्न करना, कपोत लेश्या से युक्त होना तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।

कौआ, गीध, सुअर में जन्म लेने का कर्म

यश्य मांसप्रियो नित्यं काकगृध्रान्, स संस्पृशेत्।
सुरापः सततं मर्त्यः सूकरत्वं व्रजेद् ध्रुवम्।

जो प्रतिदिन मांस के लिये लालायित रहता है वह कौओं और गीधों की योनि में जन्म लेता है। सदा शराब पीने वाला मनुष्य निश्चय ही सुअर होता है।

कौआ, प्रेत होने का कर्म

अभक्ष्यभक्षणो मर्त्यः काकजातिषु जायते।
आत्मघ्नो यो नरः कोपात् प्रेतजातिषु तिष्ठति।।

अभक्ष्य भक्षण करने वाला मनुष्य कौए के कुल में उत्पन्न होता है तथा क्रोधपूर्वक आत्महत्या करने वाला पुरुष प्रेत योनि में पड़ा रहता है।

मुर्गा, मृग होने का कर्म

पैशुन्यात् परिवादाच्च कुक्कुटत्वमवाप्नुयात्।
नास्तिकश्चैव यो मूर्खो मृगजातिं स गच्छति।।

दूसरों की चुगली और निन्दा करने से मुर्गे की योनि में जन्म लेना पड़ता है। जो मूर्ख नास्तिक होता है, वह मृग-जाति में जन्म ग्रहण करता है।

कीड़ा, गधा होने का कर्म

हिंसाविहारस्तु नरःकृमिकीटेषु जायते।
अतिमानयुतो नित्यं प्रेत्य गर्दभतां व्रजेत्।।

हिंसा या शिकार के लिए भ्रमण करने वाला मानव कीड़ों की योनि में जन्म लेता है। अत्यन्त अभिमान युक्त पुरुष सदा मृत्यु के पश्चात् गधे की योनि में जन्म पाता है।

चूहा होने का कर्म

आगम्यागमनाच्चैव परदारनिषेवणात्।

मूषिकत्वं व्रजेन्मर्त्यो नास्ति तत्र विचारणा।।

अगम्या-गमन और परस्त्रीसेवन करने से मनुष्य चूहा होता है, इसमें शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है।

सियार, भेड़िया, स्थावर होने का कर्म

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु।

कृतघ्नःपुत्राघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति।।

कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियों की योनि में जन्म लेता है। दूसरों के किए हुए उपकार को न मानने वाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावर योनि में जन्म लेता है।

सर्पादि गति प्राप्त योग्य कर्म

वितरन्ति न दानं ये पात्रेभ्यः कृपणाः क्वचित्।

धनं न जिनपूजायै त्रिजगच्छ्रीसुखार्थिनः।। (162)।।

ते दुर्गतौ चिरं भ्रान्त्वा तीव्रलोभाकुला ह्यघात्।

पुनः सर्पादिगत्याप्त्यै जायन्ते कृपणा भुवि।। (163)।।

जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रों के लिये दान नहीं देते हैं और तीन लोक की लक्ष्मी और सुख के इच्छुक होकर के भी जिनपूजा के लिये धन नहीं देते हैं वे कृपण अपने इस पाप के द्वारा तीव्र लोभ से आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदि की गति पाने वाले होते हैं। (श्री वीरवर्धमान चरिते)

वन्दना व स्वाध्याय आदि
धर्म कार्यों में विघ्न डालने का फल

णरइतिरियाइदुगइदारिद्दवियलंगहाणि दुक्खाणि।

देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं।। (37) रयण.

पद्य- **देव-शास्त्र-गुरु वन्दन श्रुत स्वाध्याय दान विघ्न फल।**
नरक-तिर्यंचादि दुर्गति दरिद्र विकलांगादि दुःख भोग।। (1)
समीक्षा- जो शुभ कार्यों में बाधा डाले वह बान्धे अन्तराय कर्म।
दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य में उसे नहीं मिलता सुफल।।(2)
ऐसे जीव होते ईर्ष्यालु दंभी जिससे वे अविवेकी होते।
जिससे वे असंयमी होकर शुभ कार्यों में विघ्न डालते।। (3)

अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य। (27) मोक्ष शा.

The inflow of obstrcutive अन्तराय Karma is caused by disturbing others in दान Charity लाभ gain, भोग enjoyment of consumable things; and वीर्य making use of their powers.

दानादिक में विघ्न डालना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादि का विघात करना विघ्न कहलाता है। दानादि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। किसी के दान लाभादि में विघ्न उपस्थित करना विघ्न कहलाता है। ज्ञान का प्रतिच्छेद सत्कारोपघात (किसी के सत्कार में विघ्न डालना) दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय, आदि में विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेदन, कान, नाक, ओंठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्।। (55)।।
वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा।। (56)।।
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा।। (57)।।
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः।। (58)।। (तत्त्वार्थसार)

तपस्वी गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य का प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना(जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना) जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना-स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

पञ्चमकाल में विशुद्धि की हीनता (काल प्रभाव)

सम्मविसोही तवगुणचारित्तं सण्णाण दाणं परिहीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं।। (38) रयण.

पद्य- भरत क्षेत्र में दुषमा काल में मनुष्यों में होते नीच गुण।
सम्यक्त्व विशुद्धि तप-गुण चारित्र सुज्ञान दान परिहीन।। (1)

(13) बछड़ों से वहन किये हुए रथ को देखने से बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्धा अवस्था में धारण नहीं कर सकेंगे।

(14) ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र को देखने से ज्ञात होता है कि राजा लोग निर्मल धर्म को छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे।

रजसाऽच्छादित सद्रत्नराशेरी क्षणतो मृशम्।
करिष्यन्ति नपाः स्तेयां निर्ग्रन्थमुनयो मिथः।। (47)।।

(15) धूलि से आच्छादित रत्नराशि को देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

(16) काले हाथियों का युद्ध देखने से मेघ मनोभिलाषित नहीं बरसेंगे।

भद्रबाहु स्वामी के मुख से स्वप्न के विचित्र फल को सुनकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल भारत का शासन छोड़कर भद्रबाहु स्वामी से निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करके स्वर्ग सिधारे।

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुए स्वप्नों का फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप से जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वप्न स्वप्न ही नहीं रहा किन्तु वास्तविक रूप में परिणमन होते हुए अनुभव में आ रहा हैं। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल को बहुत छिद्र युक्त देखने का फल कलिकाल में जिनमत में अनेक मत, सम्प्रदाय पंथप्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसा परायण साम्यवादी अनेकांत एवं स्याद्वाद के पुजारी जैनियों में अनेक मतभेद होते जा रहे हैं, जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता, एकता का विधाता था आज उसी धर्म में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मन-मुटाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन ही भाग नहीं ले रहे हैं किन्तु विशिष्ट श्रावक नेता, कर्णधार पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अंधकार रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्यूब आदि के नीचे अंधकार है, इसी प्रकार पहले मिथ्या कुधर्म में विवाद आदि होता था। परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है, यह सब कर्म दोष से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुए चित्रकों ने यथार्थ से कहा है-

सीदंति संतो विलसत्यसंतः पुत्रा म्रियंते जनकश्चिरायुः।
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैरं पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।।

हे विश्व के लोगों। कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये! इस कलिकाल में सज्जन लोग दुःखित होते हैं तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं, पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरें से मित्रता करते हैं तथा स्वजन से वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता। (पुत्राः पितुर्द्वेषिणः)
मतिरविनये धर्मे शां गुरुष्वपि वंचना।।
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।
कलियुग महाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।।

झूठ बोलने में चतुर, दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता(मायाचारी) गुरु की भी वंचना,प्रत्यक्ष में ललित मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्वलितस्तपः प्रचिलितं, सत्यं च दूरे गतं।
पृथ्वी मन्दफला नृपोऽति कुटिलो, लौल्यं गता ब्राह्मणाः।।
लोकोः स्त्रीषुरताः स्त्रीयोऽति चपलाः शास्त्रागमे विप्लवः।
साधुःसीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ।।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं, सत्य दूर भाग जाता है, पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है, राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं, लोग स्त्री में आसक्त रहते हैं, स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है, शास्त्र-आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वीर्यो पृथिवी, निरोषधिरसो, नीचा महत्वं गताः।
भूपाला निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमार्गे रताः।।
भार्या भर्तृ विरोधिनी पररता, पुत्राः पितृद्वेषिणो।
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नराः सज्जनाः।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथ्वी वीर्यहीन(सारहीन) हो जाती है,

रस, प्राण-शक्ति को देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं, राजा लोग स्व-कर्त्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं, ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं, स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर पुरुष में रत होती है, पुत्र पिता के द्वेषी हो जाते हैं। इसी प्रकार भयंकर कलियुग में जो नर धर्म, नीति, नियम को पालन करते हैं, वे धन्य हैं।

कलिकाल में धर्म करने वाले धन्य

धन्या भारतवर्ष संभवजना योऽद्यापि काले कलौ।
निस्तीर्थेश्वर केवले निरवद्यो भ्रश्यन्मनःपर्यये।
त्रुट्यच्छ्रोत्र विशेष संपदि भव दौर्गत्य दुःखापदि।
श्री जैनेन्द्रवचोनुरागवशतः कुर्वित धर्मोद्यमम्।।

वर्तमान घोर पंचम कलिकाल में तीर्थंकर, केवली, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानियों का अभाव है, योग्य श्रोताओं का भी अभाव है, विशेष वैभव से रहित, दरिद्रता आदि संकट से सहित कलियुग के मनुष्य है। इसी प्रकार विपरीत कलियुग में भी जिनेन्द्र देव के वचनानुसार धर्म में उद्यत होते हैं वे अत्यन्त अभिनंदनीय, अभिवंदनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन काल में अर्थात् चतुर्थ काल में धर्म साधन के अनुकूल परिस्थिति थी। इसलिये उस समय में धर्म का आचरण करना सरल साध्य था, परन्तु वर्तमान पंचम काल में विपरीत परिस्थिति में धर्म आचरण कष्ट साध्य है। जैसे अनुकूल जल के स्रोत में नौका को खेकर ले जाना सरल सहज है, परन्तु प्रतिकूल स्रोत में नौका को खेकर ले जाना श्रम साध्य है। जो प्रतिकूल स्रोत में एवं तूफान के समय में नौका को खेकर अपने गंतव्य स्थान में बढ़ते हैं, वह जैसे धन्यवाद के पात्र है उसी प्रकार उपर्युक्त कलिकाल में जो धर्म का श्रद्धापूर्वक, विवेकपूर्वक पालन करते हैं वे धन्य हैं। कलिकाल में अधिकांश लोग श्रद्धा, विवेक एवं आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित होकर धर्माचरण अहंकार की पुष्टि, ख्याति, लाभ, कीर्ति के लिये करते हैं। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है -

भयं दक्षिण्य कीर्ति च लज्ज्या आशा तथैव च।

पंचभिः पंचमेकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।।

पंचम काल में लोग जैन धर्म को (1) लोकभय (2) अन्य का मनःदुखित न होने के लिये (3) कीर्ति (4) लज्जा(5) आशा से पालन करेंगे।

श्रद्धा, विवेक, आत्म विशुद्धि से रहित होकर कुछ संकुचित स्वार्थनिष्ठ मनोभाव से धर्माचरण के कारण जब उस संकुचित स्वार्थ निष्ठ भाव को धक्के लगता है, तब वे धर्म से उस प्रकार टूट पड़ते हैं जिस प्रकार रत्न के समान प्रतिभासित काँच थोड़े से धक्के के कारण टूटकर नीचे गिर पड़ता है, परन्तु यथार्थ से जो रत्न होता है वह सामान्य धक्के से टूटकर नहीं गिरता है। इसी प्रकार जो यथार्थ धर्मात्मा होता है वह सामान्य प्रतिकूल अवस्था से प्रतिघातित होकर धर्म से च्युत नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि जो छोटी-छोटी बातों को लेकर धर्म में कलह उत्पन्न करके धर्म, समाज, राष्ट्र देश में फूट डालकर आतंकवाद मचा देते हैं वे यथार्थ से धर्मात्मा नहीं है।

अवध प्रभाव जान तब प्रानी, जब उर बसहिं राम धनुपानी।

सो कलिकाल कठिन उरगारी, पाप परायन सब नर नारी।।

अयोध्या के प्रभाव को प्राणी तब ही जानता है, जब श्री रामचन्द्र जी धनुष हाथ में लिये उनके हृदय में वास करते हैं। हे गरुड़जी! वह कलियुग बड़ा कठिन है क्योंकि सब नर-नारी पाप में लिप्त हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रन्थ।

दंभिन्ह निज मति कल्प करि, प्रगट किये बहु पन्थ।।

कलिकाल के पापों ने सब धर्मों को दबा लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये। पाखण्डियों ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके अनेक पन्थ प्रगट कर दिये।

भये लोग सब मोह बस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।

सुनु हरिजान ग्यान निधि, कहउँ कछुक कलिधर्म।।

सब लोग मोह के वश हो गये, लोभ ने शुभ कर्मों को ग्रस लिया । हे ज्ञानवान् गरुड़जी! अब कलियुग के कुछ धर्म कहता हूँ तो सुनिये-

मारग सोई जा हूँ जोइ भावा, पंडित सोई जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोइ, ता कहुँ संत कहइ सब कोई।।

जिसको जो अच्छा लगे वही मार्ग है और वही पण्डित है जो डींग मारता है। जो झूठ ही से आरम्भ करता है और पाखण्ड में लगा है, उसी को सब लोग सन्त कहते हैं।

सोइ सयान जो परधन हारी, जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कह झूठ मसखरी जाना, कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।।

जो पराया धन हर लेता है वही होशियार है। जो बहुत सा-पाखण्ड फैलाता है वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलना और हँसी करना जानता है, कलियुग में वही गुणवान् कहलाता है।

असुभ वेष भूषण धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्यते से कलिजुग माहिं।।

जो अमंगल वेष और अमंगल भूषण धारण किये हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य सब खा लेते हैं, कलियुग में वही योगी, सिद्ध और वही पूज्य हैं।

जे अपकारी चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन कर्म वचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ।।

जो पराया अहित करते हैं उन्हीं को गौरव मिलता है, वे ही मान्य हैं। मन, कर्म, वचन से जो लबार हैं, वे ही कलियुग में वक्ता कहलाते हैं।

सब नर काम लोभ रत क्रोधी, देव बिप्र श्रुति संत विरोधी।
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी, भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।।

सब लोग काम, लोभ और क्रोध में रत हैं। देवता, ब्राह्मण गुणी और सन्तजनों से विरोध करते हैं। गुणवान् सुन्दर पति को छोड़कर अभागिनी स्त्रियाँ पर पुरुषों से प्रीति करती हैं।

सोभागिनीं विभूषण हीना, बिधवन्ह के सिंगार नबीना।
गुरु सिष बधिर अंध का लेखा, एक न सुनइ एक नहिं देखा।।

सुहागिनी स्त्रियाँ जो आभूषण से रहित रहती हैं और विधवाओं के नित्य

नये शृंगार होते हैं। गुरु और शिष्य का अन्धे और बहिरे का सा बर्ताव होता है। एक (शिष्य) सुनता नहीं और एक (गुरु) देखता नहीं।

पर त्रिय लंपट कपट सयाने, मोह द्रोह ममता लपटाने।
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर, देखा मैं चरित्र कलियुग कर।।

जो पराई स्त्री में आसक्त, ठगने में चतुर और मोह, द्वेष और ममता में फँसे हुए हैं, वे ही मनुष्य अभिवादी(अद्वैतवादी)ज्ञानी कहते हैं। मैंने कलियुग के ऐसे चरित्र देखे हैं।

आपु गये अरु तिन्हहू घालहिं, जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं।

स्वयं तो नष्ट होते ही हैं और जो कोई अच्छे मार्ग पर चलते हैं, उनको भी नष्ट कर देते हैं।

भये बरन सङ्कर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुःख, भय रुज सोक वियोग।।

सब लोग कलियुग से वर्ण शङ्कर और मर्यादा से च्युत हो गये। वे पाप करके दुःख, भय,रोग, शोक और वियोग पाते हैं।

बहु दाम सँवारहिं धाम जाती, विषया हरि लीन्हि न रहि विरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही, कील कौतुक तात न जात कही।।

सन्यासी बहुत सा धन लगाकर घर सजाते हैं। वैराग्य उनमें नहीं रहा, उसे विषयों ने हर लिया है। तपस्वी धनवान् है और गृहस्थ दरिद्र! हे तात! कलियुग का कौतुक कुछ कहा नहीं जाता।

कुलवंति निकारहिं नारि सती, गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं, अबलानन दीख नहीं जब लौं।।

पुरुष कुलवन्ती और पतिव्रता स्त्री को घर से निकाल देते हैं और अच्छी चाल छोड़कर दासी को घर में रखते हैं। लड़के-माता-पिता को तब तक ही मानते हैं जब तक स्त्री का मुँह नहीं देखते।

ससुरारि पिआरी लगी जब तें, रिपुरुर कुटुम्ब भये तब तें।
नृप पाप परायण धर्म नहीं, करि दंड बिडम्ब प्रजा नितहीं।।

जब से ससुराल प्यारी लगने लगी, तब से कुटुम्बी वैरी हो गये। राजा पाप में लग गये, उनमें धर्म नहीं रहा। वे प्रजा को दण्ड देकर सताते हैं।

कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी।
लिक बारहिं बार दुकाल परै बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरै।।

कवि तो बहुत हैं संसार में कोई उदार पुरुष सुनने में नहीं आते। गुणों में दोष लगाने वाले हैं पर गुणी कोई नहीं है। कलियुग में बार-बार अकाल पड़ते हैं। सब लोग अन्न के बिना दुःखी होकर मरते हैं।

सुनु खगेस काल कपट हठ, दम्भ द्वेष पाषण्ड।
मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्माण्ड।।

हे पक्षीराज गरुड़जी! सुनो कलियुग में छल, हठ, दम्भ, ईर्ष्या, पाखण्ड काम, क्रोध, लोभ और अहंकार संसार भर में फैल रहे हैं।

तामस धर्म करहिं नर, जप, तप, व्रत मख दान।
देव न वरषिहिं धरनी, बए न जामहिं धान।।

मनुष्य जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान, तामसी भाव से करते हैं। देवता पृथ्वी पर वर्षा नहीं करते और बोया हुआ अन्न उगता नहीं।

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं, अभिमान विरोध अकार नहीं।
लघु जीवन संबतु पंच दसा, कलपांत न नास गुमान असा।।

रोगों से मनुष्य पीड़ित हैं, सुख कहीं नहीं मिलता। बिना कारण ही लोग अभिमान करते हैं। दस-पाँच वर्ष की थोड़ी आयु होने पर भी ऐसा घमण्ड है कि मानों कल्पों तक भी नाश न होगा।

कलिकाल बिहाल किए मनुजा, नहिं मानतकौं अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता, सब जाति कुजाति भए मगता।।

कलियुग ने मनुष्य को बेहाल कर डाला। कोई बहन-बेटी को भी नहीं मानता। न सन्तोष है, न विचार है, न शान्ति है। सब जाति, कुजाति बन गये हैं।

इरिषा पुरुषाच्छर लोलुपता, भरि पूरि रही समता बिगता।
सब लोग वियोग विसोक हुये, बरनाश्रम धर्म अचार गये।।

डाह, कठोरता, छल, लालच हो रहे हैं समता जाती रही। सब लोग वियोग व अधिक दुःख से भरे पड़े हैं वर्णाश्रम, धर्म व विचार जाता रहा।

दम दान दया नहिं जानपनी, जड़ता परवंचनताति घनी।
तनु पोषक नारि नरा सगरे, पर निंदक जे जग मो बगरे।।

इन्द्रियों को जीतना, दान, दया और समझदारी किसी में नहीं, मूर्खता और ठगाई बहुत बढ़ गई है। सब स्त्री-पुरुष अपने शरीर को पुष्ट करने वाले हैं। पराये निन्दक संसार में बहुत फैल गये हैं। (तुलसीदास कृत रामयाण)

दुर्गति का पात्र कौन ?

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया हुंति कुमाणुसा तिरिया।।(39) रयण.

पद्य- **जो न देते दान नहीं पूजा नहीं शील नहीं गुण न चारित्र।**
वह मानव कुमानव होता है तथाहि नारकी या तिर्यंच।। (1)

हेयोपादेय विचार से रहित जीव मिथ्यादृष्टि है!

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्ण पावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मुउम्मुक्को।। (40) रयण.

पद्य- **जो न जानता है कार्य-अकार्य, श्रेय-अश्रेय व पुण्य-पाप ही।**
तत्त्व-अतत्त्व व धर्म-अधर्म वह होता सम्यक्त्व मुक्त।। (1)

हेयोपादेय विचार रहित जीव के सम्यक्त्व कहाँ ?

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवादेयं।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को।। (41) रयण.

पद्य- **जो न जानता है योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य व हेय-उपादेय**
सत्य व असत्य, भव्य-अभव्य वह होता सम्यक्त्व रहित।। (1)

निजशुद्धात्म श्रद्धान बिन समस्त धर्म कार्य व्यर्थ संसारवर्द्धक

(चाल : छिप गया कोई रे ...)

सम्यग्दृष्टि महान् है... आत्मश्रद्धानी होते,
स्व-पर भेद ज्ञान से...सम्यग्ज्ञानी होते।
श्रद्धा-प्रज्ञा सहित वे...सदाचारी होते,
सातिशय पुण्यशाली...मोक्षमार्गी होते।। (1)

देव-शास्त्र-गुरु भक्ति...सहित वे होते,
तत्त्वार्थ-श्रद्धान युक्त...तत्त्वज्ञानी होते।
इसी से युक्त वे श्रावक-साधु बनते,
आत्मसाधना से वे अर्हन् सिद्ध बनते।। (2)

आत्मश्रद्धान से वे स्व को जीव द्रव्य मानते,
निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-आनन्दमय मानते।
अनादि कर्म बन्ध से स्व को अशुद्ध मानते,
आत्मसाधना से शुद्ध/(सिद्ध) बनूँ यह लक्ष्य धरते।। (3)

आत्मश्रद्धान बिन सभी धर्म कार्य व्यर्थ,
आत्मश्रद्धान बिन सभी ज्ञान है कुज्ञान।
आत्मश्रद्धान बिन (सभी) आचरण मिथ्याचार,
मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान आचरण संसार कारण।। (4)

बीज बिन यथा न होता है वृक्ष,
इकाई बिन यथा शून्य का मूल्य शून्य।
आत्मा बिन यथा शरीर होता है शव,
आत्मश्रद्धान बिन सभी धर्म है अधर्म।। (5)

आत्मश्रद्धान बिन लक्ष्य न होता मोक्ष,
आत्मश्रद्धान बिन तप होता है कुतप।
आत्मश्रद्धान बिन त्याग होता भोग/(संसार, दुःख) हेतु,
धर्म कार्य होते सभी ख्याति-पूजा-वर्चस्व हेतु।। (6)

आत्मश्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या बिन न होता मोक्षमार्ग,
रत्नत्रय बिन न होते राग-द्वेष-मोह क्षय।
समता-शान्ति-शुचिता न होती संभव,
निस्पृह-वीतरागता न होते संभव।। (7)
सातिशय पुण्य बन्ध भी न होता संभव,
संवर-निर्जरा-मोक्ष भी न होते संभव।
अतः आत्मश्रद्धान ही प्रथम/(प्रधान) करणीय,
सर्वज्ञ कथित सत्य यह 'कनक' को मान्य।। (8)

(1) उत्कृष्ट(2) मध्यम (3) जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि संयम से रहित होने के कारण तथा सम्यग्दर्शन से सहित होने के कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य पात्र हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक विरताऽविरत होने से मध्यम पात्र हैं। समस्त पापों से विरत छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्कृष्ट पात्र हैं। पात्र वे हैं जो मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होते हैं।

दान में अहिंसाधर्म पलता

हिंसायाः पर्यायो, लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम्।।(172)

In making a gift one gets over greed, which is a form of Himsa and hence gift made to a worthy recipient amount to a renunciation of Himsa.

व्याख्या - भावानुवाद : - लोभ भी हिंसा का नामान्तर है अर्थात् लोभ स्वयं भाव हिंसा है। इसलिये जहाँ लोभ है वहाँ अवश्य ही हिंसा है। जिस दान से निराकरण होता है उसे दान कहते है। जिसके कारण अतिथि के लिये दिया गया दान हिंसा को दूर करता है, लोभ को दूर करता है, वही दान इष्ट है, मान्य है।

जो दान नहीं देता वह हिंसक

गृहमागताय गुणिने, मधुकर वृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नाऽतिथये, स कथं नहि लोभवान् भवति।। (173)

जो पुरुष ऐसे अतिथि मुनियों के लिये आहार नहीं देता है वह किस प्रकार लोभवान् नहीं होगा अर्थात् वह निश्चय से लोभवान् होगा ही। जो मधुकर वृत्ति से गृहस्थों के घर में आते हैं तथा जो मूलगुण तथा उत्तरगुण से सहित होते हैं, भ्रमर वृत्ति से दूसरों को बिना क्लेश दिये हुए आहार ग्रहण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये जो उपासक-श्रावक-गृहस्थ आहार नहीं देते हैं वे कैसे लोभवान् और हिंसक नहीं होंगे। अर्थात् वे अवश्य लोभवान् और हिंसक होंगे ही।

समीक्षा :- आचार्य श्री ने इस श्लोक में एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण विषय का उद्घाटन किया है। आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया कि यदि केवल कोई अस्त्र-शस्त्रों से दूसरों की हत्या करता है तो वह ही हिंसक नहीं परन्तु जो योग्य पात्र को दान नहीं देता वह भी हिंसक है क्योंकि भाव हिंसा रूपी लोभ प्रवृत्ति उसके मन में व्याप्त है। इतना ही नहीं सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उसके धारकों के प्रति अनुराग, भक्ति, समर्पित भाव होता है। वह उनका आदर करता है, सत्कार करता है, सेवा करता है। इन गुणों से युक्त जीव ही सच्चा धार्मिक है। मेरा प्रायोगिक अनुभव है कि अनेक व्यक्ति भोग विलासिता के लिये तो अनाप-शनाप खर्चा करेंगे धार्मिक बाह्य आंडबरों के लिये, प्रदर्शन के लिये धन लुटायेंगे, नाम के लिये पंचकल्याणक आदि मेला-ठेला,भीड़-भाड़ में रूपयों की बोली लेंगे, अहिंसा का भाषण झाडेंगे परन्तु साधुओं को पानी तक नहीं पिलायेंगे, आहार नहीं देंगे ऐसे व्यक्ति यथार्थ से धार्मिक नहीं है, अहिंसक नहीं हैं परन्तु धर्मान्ध लोभी तथा हिंसक हैं। जो जीवन्त धर्म-स्वरूप साधु-सन्तों की आहार दानादि देकर वैयावृत्ति नहीं करते हैं वे सब जड़वादी, जड़पूजक, बाह्य आडम्बरी हैं। इसका विशेष वर्णन मैंने अपनी कृति ''आहार दान से अभ्युदय'', पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी'' आदि में किया है।

दान भी अहिंसाव्रत

कृत्मात्मार्थं मुनये, ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरति-विषाद-विमुक्तः, शिथलित लोभो भवत्यहिंसैव।।(174)

When one gives to a saint, food out of what he has prepared for himself such thought fully offered gift, which is

without any disregard or regret, with suppressed greed, is itself Ahimsa.

जो पूर्वोक्त प्रकार से नवधा-भक्ति, सप्तगुणों से युक्त होकर स्वयं के लिये बना हुआ शुद्ध भोजन मुनियों के लिये देता है वह दान उसके लिए अहिंसा रूप ही होता है। जो व्यक्ति अप्रेम/अभक्ति, खेद(विषाद) से रहित होकर संतोष, प्रसन्न चित्त से लोभ को मन्द करता हुआ आहार दान देता है वह अहिंसा व्रती होता है।

समीक्षा :- इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री ने यत्र-तत्र-सर्वत्र हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म एवं सार्वभौम वर्णन किया है। वस्तुतः भाव की कलुषता ही हिंसा है और वह कलुषता लोभ, क्रोध, मान, माया, मिथ्यात्व आदि से आती है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार एवं आध्यात्मिक दृष्टि से लोभ-राग सबसे बड़ा पाप है, परिग्रह है, प्रमाद है, इसलिये लोकोक्ति है - ''लोभ पाप का बाप बखाना।'' ऐसे लोभ को दूर करके जो पवित्र भक्ति भावना से आहार देता है वह अवश्य अहिंसक है, धर्मात्मा है, त्यागी है, दानी है। मेरा स्वयं का ग्यारह प्रदेश का प्रायोगिक अनुभव यह है कि जो व्यक्ति साधुओं को आहार देते हैं उनका परिणाम अन्य स्वाध्याय, उपवास, पूजादि धार्मिक क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों से अधिक सरल, मृदु, दयालु, भोला, परोपकारी, निर्लोभी, त्यागी, दानी होता है। आहारदान से आचार्यों ने चारों प्रकार का दान होता है, ऐसा कहा है। क्षुधा-तृषा रूपी रोग दूर होने से आहारदान औषधिदान है। आहार करके निर्विघ्न अध्ययन करने से ज्ञान दान है तथा इससे जीवित रहा जाता है अतः अभयदान है। इस प्रकार आहारदान को पूजा, वैय्यावृत्ति, सेवा, वात्सल्यभाव, त्याग-दान भी कहा गया है। कुछ लोग जिनवाणी की तोता रटन्त जैसी पढ़ाई करके केवल मस्तिष्क की खुजली दूर करते हैं तथा घमण्ड को बढ़ाते हैं दूसरों से अनावश्यक वाद-विवाद करके फूट डालते हैं। कुछ लोग मन्दिर की सामग्री को ही एक थाली से दूसरा थाली में चढ़ाकर स्वयं को महान् धार्मिक मान लेते हैं और सोचते हैं ''मैं पूजा करके भगवान् पर अहसान कर रहा हूँ। मेरे बिना तो भगवान् बिना सेवा पूजा के बासी ही रह जाते।'' वे पूजा करते करते पूजा सामग्री को लेकर पूजा की पद्धति को लेकर यहाँ तक की कभी कभी पाटला, चौकी, स्थान को लेकर लड़ेगे-भिडेंगे, गाली गलौज करते रहेंगे और समाज में फूट डालते रहेंगे। कुछ उपवास

करने वाले भी चिडचिड़ करते रहेंगे। उपवास में भी विकथा/कलह आदि करते रहेंगे। परन्तु मेरा अनुभव है कि आहारदान करने वालों में उपर्युक्त दुर्गुण के परिवर्तन में सुगुण पाये जाते हैं। इतना ही नहीं जो आहारदान देते हैं उन्हें अधिक परिश्रम करना पड़ता है, अधिक समय देना पड़ता है और अधिक विवेक से काम करना पड़ता है। आहार देने के लिए सुबह से लेकर मध्याह्न 1 बजे तक परिश्रम करना पड़ता है। शुद्धि, मर्यादा, अन्तराय, पद्धति, भक्ति आदि का ध्यान/विवेक रखना पड़ता है। भोजन सामग्रियों को, बर्तन, पाटा, चौका, चन्दवा, लकड़ी आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है और उसके लिये धन भी खर्च करना पड़ता है। इतना परिश्रम, इतना ध्यान, इतने सही तरीके से धन का सद्-उपयोग वर्तमान में अन्य क्षेत्र में देखने में नहीं आता है। अन्य क्षेत्र में ज्यादा करके नाम के लिये, दिखावे के लिये काम होता है परन्तु आहारदान में तथा दानकर्त्ता में इतनी विकृतियाँ अभी भी नहीं आयी हैं।

न क्रोधो न च मत्सरो न च मदो माया न कामो न।
न द्वेषो मोहसरागदर्पमदता लोभो भवेत्तस्य न।।
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासक्तिरभ्यासता।
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता दानेषु यत्रादरः।।(22)

जिस भव्य को दान देने में आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व, विषयाभिलाषा इत्यादि दोष नहीं करते हैं परन्तु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य विचारों में आसक्ति, नित्य पुण्य विषयों का विचार करना, सर्व कार्यों में नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं।

वातघ्नो मलमूत्रकृच्छकहरो दुष्पित्तनुत्पुष्टिकृत्।
मेधाबुद्धिबलांगकांतिकरणः पापच्छिदग्निप्रदः।।
दृग्ज्ञानवरणापहो बहुगुणः शीतः सुसेव्यो बुधैः।
गव्याधार इवाप्यदभ्रगुणदो वर्षानुवत्सादरः।।(20)

जिस प्रकार गायका घी आदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोग को दूर करता है, मलमूत्र के विकार को नष्ट करता है, थकावट को दूर करता है, पित्तोद्रेक को हटाता है, शरीर को बल देता है, मेधा बुद्धि और शरीर की कांति को

बढ़ाता है, प्यास को दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुद्धिविकार इत्यादि दोषों को दूर करता है। यह ठण्डा है, एवं सर्वजनों से सेव्य है उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी वात नाश होता है। उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी तेज बुद्धि तेज हो जाती है, पाप का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभाव से पात्रदान देने में बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि।।(114) र.श्रा.

जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान है, किसी खास तिथि से राग द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रूधिर को धो देता है, नष्ट कर देता है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।।(115)

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से, पड़गाहने से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा से विशेष सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञान के सागर है' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलते च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।।(116)

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज संसारी जीवों को बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलाषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में छाया विभव का समास इस प्रकार होता है। **छाया महात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्यते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं**

छाया का अर्थ महात्म्य होता है और विभव का अर्थ संपत्ति होती है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है उस फल को दान देता है। वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ अनातप घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य अधिकता लिया जाता है। छाया-आतप-निरोधिनी तस्या विभवं प्राचुर्यं यथाभवत्येव। इस प्रकार क्रिया विशेषण किया जाता है।

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्ति/सेवा कहा है ''दान वैयावृत्य''- भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते अर्थात् भोजनादि दान को भी वैयावृत्य कहते हैं। धवला, जयधवला, तत्त्वार्थ सूत्र, भगवती आराधना आदि में वैयावृत्य का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। उन में सविस्तार वर्णन किया गया है कि जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है और आगे तीर्थंकर बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तीर्थंकर बनने की 16 भावना में से (1) वैयावृत्य के साथ-साथ (2) शक्ति के अनुसार त्याग (3) शक्ति के अनुसार तप (4) आचार्य भक्ति (5) बहुश्रुत भक्ति (6) वात्सल्य भाव। ये सब प्रत्यक्ष परोक्ष या आंशिक रूप से वैयावृत्य/सेवा/भक्ति/दान में गर्भित हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वैयावृत्य की महानता तथा व्यापकता कितना श्रेष्ठ/ज्येष्ट/गरिष्ट है। उपर्युक्त वर्णन से वैयावृत्य का महत्व स्पष्ट-प्रतिभासित हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने दान के साथ-साथ उनकी शारीरिक सेवादि को भी वैयावृत्य कहा है। यथा :-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्।।(22)

टीकार्थ :- देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बिमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वे सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दुष्टफलकी अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश की जाती है।

भगवती आराधना जो मुख्यतः मुनियों के लिये रचना की गई है उसमें

वर्णन किया गया है कि जो मुनि 6 महीना उपवास करके पर्वत के ऊपर तप करता है या स्वाध्याय करता है उससे भी श्रेष्ठ वैयावृत्ति करने वाले साधु को कहा गया है। वैयावृत्ति अन्तरंग तप है जैसा कि स्वाध्याय, ध्यान अन्तरंग तप है। रयणसार में कहा है- **''दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा''** अर्थात् दान, पूजा श्रावक धर्म में प्रमुख है और दान, पूजा बिना कोई श्रावक नहीं होता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि वैयावृत्ति श्रावक के मुख्य कर्त्तव्य है तथा साधुओं के गौण कर्त्तव्य है। तथापि साधुओं की शुभ क्रिया में वैयावृत्ति का स्थान बहुत महत्वपूर्ण बताया है यथा-

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से।।(249) प्र. सार

(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसंघस्य) चार प्रकार साधु संघ का (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिदं) छहकाय के प्राणियों की विराधना से रहित क्रिया द्वारा (उपकुणदि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो) शुभोपयोगीधारियों में मुख्य होता है।

समीक्षा :- कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सिद्ध किया है कि जो चतुर्विध संघ का उपकार करता है, वह धर्मानुरागी में श्रेष्ठ है। इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर छट्ठे गुणस्थानवर्ती श्रमण तक का कर्त्तव्य धर्मात्मा का उपकार करना है। तुलसीदास ने कहा है :-

परोपकार सम धर्म नहि भाई।

नीतिकार व्यास ने भी कहा है -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

व्यास जी कहते है 18 पुराणों व 4 वेदों का संकलन मैने दो वाक्यों में किया ''परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।'' पुण्य धर्म क्या है ? कर्त्तव्य, परोपकार। अधर्म क्या है ? अनीति, पाप, परापकार। हमारे आचार्यों ने भी कहा है -

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

रहिमन कवि ने कहा भी है -

तरूवर फल नहि खात है, नदी न संचै नीर।
रहिमन पर काज हित, सज्जन धरै शरीर।।

प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है...

परोपकाराय फलंति वृक्षापरोपकाराय वहन्ति नद्याः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां प्रवृत्तियः।।

परोपकार के लिये जीवन भर वृक्ष, जीवन शक्ति प्रदायक अमृत तुल्य उत्तमोत्तम फल देते हैं। परोपकार के लिए नदियाँ शीतल मधुर जल लेकर बहती हैं। परोपकार के लिये गाय अमृत तुल्य दूध जीवन भर देती है। इसी प्रकार परोपकार के लिए सज्जन सतत प्रयत्नशील रहता है।

सतीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होइ।
आणाए णिज्जारीति य सबालउड्डाउले गच्छे।। (306) भ.आ.

बालमुनि और वृद्धमुनियों से भरे हुए इस गुण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्ति करने में तत्पर रहो। सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्ति तप है और तप से निर्जरा होती है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे।
आहाररोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु।। (307)।।

सोने के स्थान, बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषधि का देना स्वास्थ्य करना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है।

अध्यादाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्तं सगहसारक्खणोवेदं ।। (308)।।

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना। जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और भारी रोग से जो पीड़ित हैं विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फँसे है उन्हें सुभिक्ष देश में लाना 'आप न डरें' इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य बंधाना तथा उनका संरक्षण करने को वैयावृत्य कहा है।

वैयावृत्य न करने की निन्दा

अणिगुहिदवलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो।। (309)

अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्ति नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत हो जाता है यह इस गाथा का अभिप्राय है।

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो।

अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिंद होदि।। (310)

वैयावृत्य न करने से तीर्थंकरों की आज्ञा का भंग होता है। शास्त्र में कहे गये धर्म का नाश होता है। आचार का लोप होता है और उस व्यक्ति के द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार न करने से मुनिवर्ग का त्याग होता है और शास्त्र आचरण न करने से आगम का त्याग होता हैं।

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भतिपत्तलंभो य ?

संधाणं तव पूया अव्वो तिच्छत्ती समाधी य।।(311)

वैयावृत्य करने का पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है उसकी पीड़ित साधु के गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेष प्रवृत्ति होती है। इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र का लाभ, सन्धान, अपने में गुण पूजा, छूट गये हैं इनका पुनः आरोपण, तप, धर्म, तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि ये गुण हैं।

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा यः।

वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि।। (312)

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। आज्ञा पालन से आज्ञा संयम होता है। वैयावृत्य करने वाले का उपकार होता है। निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है। संयम में सहायता होती है। विचिकित्सा ग्लानि दूर होती है। धर्म की प्रभावना होती है और कार्य का निर्वाह होता है।

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामों कदो होदि।। (316)

इस प्रकार ऊपर कहे गये यति के गुणों में जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यति में जो गुण है यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता है वह उन गुणों में परिणत होता है और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणों से च्युत नहीं होता। अतः अपने और दूसरों के उपकार के लिए वैयावृत्य कहा है।

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरूहइ धम्मगुणसेढ़िं।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि।। (317)

जैसे-जैसे गुण परिणाम होते हैं वैसे-वैसे चारित्ररूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है और जिनेन्द्र के मार्ग में नई-नई संसार भीरूता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है जैसे-जैसे यति गुणों का स्मरण होता है वैसे-वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है।

जो यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता। उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रूचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रत्नत्रय में दृढ़ करती है। इस गाथा से श्रद्धा गुण का कथन किया। आगे कहते हैं कि गुणों के स्मरण से उनमें रूचि होती है। रूचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है।

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्ल भावदो उक्कमदि।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ।। (318)

श्रद्धा के बढ़ने पर मुनि से वात्सल्य करते हैं। उनमें धर्म में तीव्र राग होता है। धर्म में तीव्र राग समस्त जगत् में जो इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्र राग रखने वाला यति सब सुख को प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

वैयावृत्य भी भक्ति

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य।। (319)

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शनविशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बंध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, घातीकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने में पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शनमोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा से जो बद्ध हैं, जो आठ महाप्रतिहार्य और 34 अतिशय विशेष से युक्त हैं वे अर्हन्त हैं। मिथ्यात्व आदि से परिणामों में आये आठ कर्मों के बन्धन से छूट चुके हैं, जो अजर, अमर, अव्याबाधगुण से युक्त हैं, अनुपम अनन्त सुख से शोभित हैं। जिसके सदा प्रज्ज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर हैं, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्मा को पा लिया है वे सिद्ध हैं। इन अर्हन्तों और सिद्धों की भक्ति अरिहन्त सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय का ग्रहण किया है। इनकी भक्ति गुरु भक्ति है और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रय में सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहे अनुसार वैयावृत्य करने से उनकी भक्ति की गई जानना। रत्नत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अर्हन्त आदि में भी भक्ति होती है।

वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गाहिदकसायवेदणो दंतो।
लब्भदि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो।। (321)

वैयावृत्य करने से पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला,

कषाय वेदना का निग्रह करने वाला, कषाय आत्मा को संतप्त करता है इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्त्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दान्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रत्नों का निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को वैयावृत्य के लिए ऐसे सत्पात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ।
तो तेण सिद्धिमग्गो ठविदो अप्पा परो चेव।। (322)

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा का तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा संधान पद का व्याख्यान किया गया है।

वेज्जवच्चकरोपुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढ़ो।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं।। (323)

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मो की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा।
विविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति।। (324)

शुद्धचित्त से वैयावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म, मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। तीर्थकरों की आज्ञा के पालन से सभी तीर्थंकर आदि उसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तप धर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है। अतः वैयावृत्य में आदर भाव रखने तथा वैयावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि।
संघस्स धारणाए अव्वोच्छिति कया होइ ।। (325)

आचार्य को धारण करने से समस्त संघ धारित होता है क्योंकि आचार्य

रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रय को धारण किये हुए होते हैं उन्हें उसमें दृढ़ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करते हैं। आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही संघ गुणों के समुह को धारण करता है अतः आचार्य के धारण से संघ का धारण होता है। आचार्य के बिना संघ का धारण सम्भव नहीं है। संघ के धारण से अभ्युदय और मोक्ष के सुख का साधन जो धर्म है उस धर्म तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। उपाध्याय आदि सभी समस्त कर्मों के विनाश की साधना करते हैं, इसलिए साधु शब्द से उन सबका ग्रहण होता है।

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साधु चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो।। (326)

जैसे आचार्य की धारणा में संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

शंका - एक साधु की धारणा से सब साधु समुदाय की धारणा कैसे हो सकती है? क्योंकि समुदाय और व्यक्ति में तो भेद है ?

समाधान - साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है। समुदाय और उसके अवयव व्यक्ति में कथंचित् अभेद होता है। यह इन गाथाओं के द्वारा माना है।

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य अवगूहिया होदि।। (327)

श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान,तप,पूजा तीर्थं की अव्युच्छिति इत्यादि गुणों का उत्कष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है वह भी प्राप्त होती है क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिना कारण में आदर नहीं होता। यदि चित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुण परिणाम आदि सिद्ध सुख के उपाय हैं। सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा स कदा।। (328)

जो वैयावृत्य करता है तीर्थंकरों की आज्ञा का पालना करता है। इस कथन में गाथा के ''आणा'' पद का व्याख्यान किया गया है। संयम योग का पालन होता हैं। इस कथन में संयम पद का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आधि-व्याधि से पीड़ित होते हैं और बिना संक्लेश के रोग परीषह को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा 'संयम योग' अर्थात् अनशन आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी और दूसरों के तप की भी रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनकी संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमे 'जम्हा' पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है- अतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इन्द्रियों के दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रिय का निग्रह करता है। अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च।। (329)

वैयावृत्य करने वाला उक्त प्रकार से दूसरे साधुओं को रत्नत्रय को दान करता है इसलिए वह सातिशय दान का ज्ञाता होता है। तथा वैयावृत्य से सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीर का मल-मूत्रादि बिना ग्लानि के उठाने से द्रव्य विचिकित्सा दूर होती है। आगम में कहे हुए धर्म का पालन करने से प्रवचन की प्रभावना भी होती है और संघ का जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इन गाथा में ''कज्जपुण्णाणि'' पद का व्याख्यान किया है।

गुणपरिणामादीहिं। य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं।। (330)

वैयावृत्य में तत्पर साधु गुण परिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म का बंध करता है जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो।। (331)

वैयावृत्य में तत्पर साधु में बहुत से गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैयावृत्य करने वाला अपना और दूसरों का उपकार करता है अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैयावृत्य करने वाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करने वाले साधु पर यदि विपत्ति आये तो उसे वैयावृत्य करने वाले साधु का ही मुँह ताकना पड़ता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिए शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिए पाप कर्म या हिंसाकर्म की इच्छा नहीं रखता है उसके वह व्याख्यान शोभनीय है। परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिए पापकर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म को कार्य की अपेक्षा से ही नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा।

यहाँ पर आचार्यश्री ने संसारी भोगवादी, आलसी व्यक्तियों के सम्बन्धी मनोविज्ञान का नग्न जीवन्त रूप प्रकट किया है। अधिकांश संसारी मोही जीव उपरोक्त सिद्धान्त को मनसा वचसा प्रयोग में लाते हैं। अर्थात् वे राग-भोग, धनोपार्जन, स्वार्थसिद्धि के समय में अनर्गल रूप से हिंसा करता है, पाप करता है परन्तु जब धर्मकार्य का अवसर आता है तब वह हिंसा का बहाना लेकर उस धर्मकार्य से विमुख हो जाता है।

भोगरागं स्वयुवति सुखं नित्यमिच्छन्ति जैनाः।
दानपूजादिकुरू-कुरू न मे नोऽद्य वारो वन्देन्न।।

नामधारी जैन, इन्द्रियजनित भोग, राग-रंग, युवतिजनित सुख को तो नित्य चाहता है, परन्तु जब दानादि, धार्मिक कार्य का अवसर आता है तब धर्म से विमुख हो अनेक बहाने बनाता है और कहता है आज का वार अच्छा नहीं है कल करेंगे।

प्रभु भजन को आलसी भोजन को तैयार।
ऐसे मूढ़ नरन को बार-बार धिक्कार।।

ऐसा मूढ व्यक्ति भोग के लिए सर्वदा जागृत रहता है, कटिबद्ध रहता है, अनालसी रहता है।

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होयेगी, बहुरि करेगा कब।।

परन्तु ऐसे भोगवादी का सिद्धान्त धर्म करने के लिए दूसरा है -

आज करे सो काल कर, कल करे सो परसों।
जल्दी-जल्दी क्या पड़ी, जिन्दा रहना है बरसों।।

संसारी जीव मोह, राग द्वेष से प्रेरित जो कार्य करता है वह स्वघात के लिए होता है, क्योंकि जो आत्मा के लिए उपकारक होता है वह शरीर के लिए अपकारक होता है तथा जो आत्मा के लिए अपकारक होता है वह शरीर के लिए उपकारक होता है। भृर्तहारि ने वैराग्यशतक में कहा भी है -

भोगा न भुक्तो वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।।(12)

हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने हमें भोग लिया। हम तप नहीं कर सके परन्तु तप ने ही हमें तपा लिया। काल व्यतीत नहीं हुआ परन्तु हम ही व्यतीत हो गए। तृष्णा समाप्त नहीं हुई परन्तु हम ही समाप्त हो गये।

इसलिए तो जैनाचार्यों ने कहा-यह मोही अज्ञानी जीव विषय भोग के लिए जितना अध्यवसाय कर चुका है, उसके अनंतवें भाग भी यदि आत्मकल्याण के लिए पुरुषार्थ करता तो अब तक उसे शाश्वितिक सुख मिल जाता। परन्तु मोह का माहात्म्य ही ऐसा है कि जीव विषय, रागद्वेष के कार्य चाव से इच्छापूर्वक करता है परन्तु धार्मिक कार्य से विमुख रहता है परन्तु बाहर से स्वयं को धार्मिक बताने के लिए जताने के लिए सम्यक् धार्मिक क्रियाओं में दोषारोपण कर उन धार्मिक क्रियाओं से विमुख रहता है।

असद्धिधाविनोदेनमात्मान मूढ़ वंचय।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम्।। (3)

हे मूर्ख! तू मिथ्या ज्ञान में अनुरक्त होकर स्वयं को मत ठग किन्तु जिसमें आत्महित होता है ऐसे योग्य कार्य को कर। क्या तू संसार की सब बातों को

इन्द्रियों को मुग्ध करने वाले विषय भोगादिकों को नश्वर नहीं जानता ? अर्थात् तुझे समझ लेना चाहिए कि संसार के सब ही पदार्थ नष्ट होने वाले हैं, यहाँ स्थिर कुछ भी नहीं है।

अद्य श्वो वा परस्मिन्वा दिने धर्म करोम्यहम्।

चिंतयन्ति जना एवं क्षणं न सहते यमः।। (95) आ. पूज्यपाद

मैं आज नहीं तो कल व परसों अवश्य ही धर्माचरण धारण करूँगा। इस प्रकार अनेक जन विचार करते हैं परन्तु मृत्यु तो क्षणभर भी धीरज नहीं धरती इसका विचार कोई नहीं करता।

कालक्षेपो न कर्त्तव्यं आयुः क्षीणं दिने दिने।

यमस्य करूणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः।। (96)

अब व्यर्थ ही कालक्षेप करना ठीक नहीं है, क्योंकि आयु क्षण क्षण में बीती जाती है। यमराज को दया नहीं है इस कारण धर्म को शीघ्र ही धारण करना चहिए।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः।। (97)

शरीर अनित्य है, वैभव भी सदा नहीं रहता। मृत्यु सिर पर (घेरा दे) मंडरा रही है इस कारण धर्म का संग्रह शीघ्र ही करना चाहिए।

जीवितं मृत्तकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितं।

मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवि भविष्यति।। (98)

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जो धर्म रहित है मैं उन मनुष्यों को जीवित रहते हुए भी मरा हुआ ही मानता हूँ और जो मनुष्य धर्म सहित मर गया है उसे मैं दीर्घजीवी अर्थात् जीवन ही मानता हूँ।

अल्पबंधक परोपकार भी करणीय है-

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागाराणगारचरियजुजाणं।

अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।। (251)

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलने वाले श्रावकों की तथा मुनियों की सेवा व उनके साथ

दयापूर्वक धर्म प्रेम या उपकार शुद्धात्मा की भावना को विनाश करने वाले प्रसिद्धि पूजा लाभ की इच्छा आदि भावों से रहित होकर करें।

समीक्षा : इस गाथा में कुंदकुंद आचार्य ने एक विकल्पात्मक महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती तब तक शुभोपयोग में इच्छापूर्वक, उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करो, भले उससे आनुषंगिक रूप में थोड़ा बंध भी क्यों न हो। जैसे कृषक व्यापारी आदि पहले बीज, पूँजी आदि खर्च करते हैं परन्तु उसके फलस्वरूप आगे जाकर अधिक लाभ होता है। यदि पहले बीज या पूँजी के भय से कृषि या व्यापार नहीं किया जायेगा तो अधिक लाभ से वंचित रहना पड़ेगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थकरों की स्तुति करते हुए कहा है हे भगवान् ! जो आपकी द्रव्यादि से पूजा करते हैं उन्हें थोड़ा पाप बंध होता है पर वह पाप बंध दोषकारी नहीं है, क्योंकि उससे अधिक पुण्य का संचय होता है।

पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।(3)

हे! भगवान् इन्द्र के द्वारा पूजनीय तथा कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले मनुष्य के जो सराग परिणति अथवा आरम्भादि जनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह बहुत भारी पुण्य की राशि में दोष के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि विष की अल्पमात्रा शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में दोष सम्पन्न करने वाली नहीं है।

धर्म निर्मूलं विध्वंस सहन्ते न प्रभावका।
बिना सावद्य लेशेन न स्यात्धर्मप्रभावना।।

धर्म निर्मूल विनाश को धर्मवीर, कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक, तेजस्वी व्यक्ति सहन नहीं करते हैं। धर्म की प्रभावना के लिए निर्मल भावना से कार्य करते हुए आनुषंगिक रूप से जो पाप बंध हो जाता है वह दोषकारक नहीं होता है। उदाहरण के लिए मन्दिर बनाने, मूर्ति बनाने, तीर्थयात्रा, आहार दान देने में, पंचकल्याण पूजादि में अवश्य ही कुछ न कुछ पाप बंध होता ही है। पर वह पाप पुण्य के समक्ष अत्यन्त अल्प होने के कारण नहीं के बराबर है। इसका मुख्य कारण है

भाव। भाव से ही पाप बंध, पुण्य बंध एवं निर्जरा होती है। एक धीवर मछली पकड़ने के लिए दिनभर जलाशय में जाल बिछाता है परन्तु एक भी मछली पकड़ नहीं पाता तथापि वह पापी है। कृषक के द्वारा खेत में काम करते करते लाखों करोड़ों जीव मरने के बाद भी धीवर के जैसा पापी नहीं है।

सेवा वैयावृत्ति हेतु सुयोग्य समय

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रुढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।। (252)

जो रत्नत्रय की भावना से अपनी आत्मा को साधता है वह साधु है। ऐसा साधु दूसरे श्रमण को जीवन मरण, लाभ-अलाभ आदि में संभावना को रखने वाला है ऐसे साधु को रोग से पीड़ित देखकर, जो रोग अनाकुलतारूप परमात्मस्वरूप से विलक्षण आकुलता को पैदा करने वाला है या भुख प्यास से निर्बल जानकर या मार्ग की थकान से वा मास, पक्ष आदि उपवास की गर्मी से असमर्थ समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करें। तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा की भावना के घातक रोग आदि के अवसर पर वैयावृत्य करना साधु का कर्त्तव्य है तथा शेषकाल में अपना चारित्र पाले।

समीक्षा : वैयावृत्य या सेवा करना श्रावक का श्रेष्ठ कर्त्तव्य होते हुए भी यह सेवा अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति को नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति के लिये की गई सेवा यथार्थ नहीं है **'निकी के फीकी लगे बिना अवसर की बात'** अर्थात् अच्छे कार्य भी अयोग्य समय में फिके हो जाते हैं जैसे जिसका पेट भरा है उसे बलपूर्वक भोजन कराने वाले के लिए घातक हो जाता है। इस प्रकार जो स्वस्थ्य है और जिनको सेवा की आवश्यकता नहीं है उसकी सेवा करना मानो सेव्य एवं सेवकों के लिय घातक है क्योंकि इसमें दोनों का समय अपव्यय होता हैं एवं शक्ति का दुरुपयोग भी होता है। जो अस्वस्थ्य हैं उसकी सेवा करनी चाहिए।

सेवार्थ लौकिक जनों के साथ संभाषण विधेय

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुढ्डसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।। (253)

(वा) अथवा (गिलाणगुरुवालबुड्ढसमणाणं) रोगी मुनि गुरु अर्थात् स्थूलकाय मुनि या पूज्य मुनि, बालक मुनि तथा वृद्ध मुनि की (वेज्जावच्चणिमित्त) वैयावृत्य के लिए (सुहोवुदा) शुभोपयोग मुनि को (लोगिगजणसंभासा) लौकिक जनों के साथ भाषण (णिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है।

समीक्षाा : श्रमण का एक विशेषण मुनि भी है अर्थात् जो मौनपूर्वक आत्मसाधना में लवलीन रहता है उसे मुनि कहते हैं। अधिक वार्तालाप करने से राग द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है। मन विक्षिप्त हो सकता है, मन एवं शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है। इसलिए श्रमणों के लिए (1) सत्य धर्म (2) सत्य महाव्रत (3) भाषा समिति (4) वचन गुप्तिरूपी चार-चार मर्यादाओं की सीमाओं में मर्यादित किया गया है। श्रमण को किस प्रकार किस तरह से कैसे वार्तालाप करनी चाहिए इसका वर्णन वीरनंदी आचार्य ने सिद्धान्तसार में किया है -

उक्तिः कार्यो सहाचार्यैः कार्यार्थं शेषवयोगिभिः।
न मिथ्यादृष्टिभिर्भाज्या श्रावकैः स्वजनैश्च सा।। (69)

मुनि आचार्य के साथ वार्तालाप कर शेष मुनि के साथ कोई कार्य विशेष हो तो वार्तालाप करें। मिथ्यादृष्टियों के साथ कभी भी वार्तालाप न करें। जिन धर्मावलम्बी श्रावकों के साथ कभी किसी कार्यवश बात करें और निष्प्रयोजन कभी भी वार्तालाप न करे।

तथापि कुंदकुन्द देव ने इस गाथा में सेवा के लिए लौकिक जन के साथ संभाषण के लिए निषेध नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि सेवा के लिए लौकिक जन से संभाषण भी दोषकारक नहीं है। अतः पारिशेष न्याय से सिद्ध होता है कि सेवा श्रमण एवं श्रावक के लिए महान्तम कार्य है। प्रायश्चित्त शास्त्र में तो यहाँ तक लिखा है कि अति रोगी साधु के लिए चिकित्सा करने जब विशेष वैद्य आता है तब आचार्य श्री खड़े हो जाते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु यह विरोधाभास नहीं है क्योंकि अकारण साधु कोई कार्य नही करते, परन्तु धार्मिक जनों की रक्षा के लिए धर्म की प्रभावना के लिए द्रव्य, क्षेत्र काल भाव को देखकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में दोष न लगे ऐसी क्रियाएँ करते हैं।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकोः विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्।।

निःसन्देह जैन धर्मानुयायियों के वे समस्त विधि विधान प्रमाण है जिससे उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है और चारित्र दूषित नहीं होता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधु सेवा के लिए लौकिक जन संभाषण दूषण नहीं परन्तु भूषण है। इसके छल से कोई यदि व्यर्थ अनर्गल, अनावश्यक लौकिक जन से सम्भाषण करना तो दूर रहे धार्मिक जन से भी सम्भाषण करेगा तो वह अयोग्य और शिथिलाचार का पोषक होगा। वर्तमान काल में साधु रात को नहीं बोलते यह अति उत्तम हैं क्योंकि रात में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है जिससे जीवों की हिंसा हो सकती है तथा ध्यान, अध्ययन, मनन चिंतन में बाधा पहुँच सकती है। परन्तु आवश्यकवशतः धार्मिक कार्य के लिए कदाचित् कोई बोलता है तो विशेष दोषकारक नहीं है।

शुभोपयोग श्रावकों के लिए मुख्य एवं श्रमणों के लिए गौण

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एवं परं लहदि सोक्खं।। (254) प्र.सा.

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावत्य करते हैं यह पापारम्भ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि, अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है इसलिए वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म हैं। किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त और रौद्र ध्यान में परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करें तो खोटे ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से गृहस्थों को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं ऐसा गाथा का अभिप्राय हैं।

समीक्षा : इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि भले गृहस्थ एवं

श्रमण दोनों शुभोपयोग में रहते हैं तथापि शुभोपयोग क्रियाओं की मुख्यता श्रावकों की रहती है। शुभोपयोग चतुर्थ गुणस्थान से लेकर श्रेणी आरोहण से पहले तक मुख्यतया से रहता है। तथापि सप्तम गुणस्थान में अधिक शुभोपयोग रहता है। परन्तु शुभोपयोग की क्रियाएँ 5वें गुणस्थान (श्रावक) में अधिक होती है। भले पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और एक देश चारित्र भी है तथापि चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से वह सर्वविरति को प्राप्त नहीं हो पाता है जिसके कारण गृह में रहकर असि, मसि, कृषि, गृहादि कार्य एवं विषयभोग भी करता है जिससे वह विशेष पापास्रव करता है। उस पाप को धोने के लिए वह वैयावृत्ति आदि विशेष रूप में करता है। कहा भी है-

त्याज्यानजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते।।

जिसके मिथ्यात्व कर्म का नाश हो गया है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जिसको हेयोपादान का ज्ञान हो गया है, जिससे वह सम्यग्दृष्टि भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से सांसारिक पंचेन्द्रिय विषयों को निरन्तर हेय समझता है/दुःख का कारण मानता है, मिथ्यादृष्टि के समान सांसारिक विषयभोगों में लीन/तल्लीन नहीं होता। तथापि प्रत्याख्यानावरण लक्षण चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उसको छोड़ने में असमर्थ है ऐसे भव्य जीवों को आचार्यों ने गृहस्थ धर्म पालन का उपदेश दिया है।

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहु ण वि पूज्जिउ जिण णाहु।
पंच ण वंदिय परम गुरु किमु होसइ सिव लाहु।।

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदिक को चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया। इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की। और तीन लोक द्वारा वन्दने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु इन पंच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे शिव का लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही

उपाय है। जिनपूजा, पंच परमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

पुत्त कलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पाव बुद्धिए।
परिहरदि दयादाणं सो जीव भमदि संसारे।। आ. कुन्दकुन्द

यह संसारी जीव पुत्र और स्त्री के निमित्त से पाप बुद्धि से कमाता है तथा दया और दान को छोड़ देता है। वह जीव संसार में भ्रमण करता है।

जो गृहस्थ व्यापार में भोग-राग में विषय वासना में लिप्त होता हुआ भी श्रावक योग्य दान पूजादि धर्म को नहीं करता तथा एकांत आध्यात्मिक वाद का सहारा लेकर श्रावक योग्य क्रियाओं से पुण्य बंध होता है और पुण्य संसार का कारण मानकर पुण्य क्रिया से रहित हो पाप क्रियाओं में रत रहता है उसके लिए देवसेनाचार्य ने भाव संग्रह में निम्न प्रकार कहा है -

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पम्मायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।।

यह धर्मध्यान मुख्यतया से प्रमाद से रहित सातवें गुणस्थान में होता है तथा देशविरत पाँचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयत्त छठे गुणस्थान में यही धर्मध्यान उपचार से होता है।

एवं तं सालंबं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण।
इयंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं।।

इन पंचपरमेष्टियों का ध्यान नियम पूर्वक आवलम्बन सहित धर्मध्यान कहलाता है। इन पाँचों परमेष्टियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो।।

यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालंब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाला मनुष्य मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है।

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतगंथपरमिओ णिच्चं।
वहु आरम्भपउत्तो कइ झायइ शुद्धप्पाणं।।

गृहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने के कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इसलिए वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता।

घर बाबारा केइ करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स।।

गूहस्थों को घर के कितने ही काम करने पड़ते हैं। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने बैठता है तब इसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार स्मरण में आ जाते हैं।

अह ढिंकुलियां झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाण चित्तम्मि वियलम्मि।।

जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेंकी के समान होता है। जिस प्रकार ढेंकी धान कूटने में लगी रहती है परन्तु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है। इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान या शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है। वह सो जाता है तब उसके चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी ठहर नहीं सकती। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

झाणणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्य।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा।।

अथवा वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतान रूप परम्परा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता।

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंच परमेष्ठिरूव अहवा मंतक्खरं तेसिं।।

इसलिए गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना

चाहिए। या तो उसे पंचपरमेष्टि का ध्यान करना चाहिए अथवा पंच परमेष्टि के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

चतुर्थ गुणस्थान से आगे उत्तरोत्तर पापकर्म का संवर और निर्जरा की वृद्धि हो जाती है। और पुण्य कर्म का आस्रव और बन्ध उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार क्रिया सकषाय गुणस्थान तक (10वें गुणस्थान तक) चलती रहती है। क्षीणकषाय आदि गुणस्थान में पुण्यास्रव होता है फिर भी बन्ध नहीं होता है परन्तु पुण्य कर्म तेरहवें गुणस्थान तक नष्ट नहीं होता है किन्तु बढ़ता ही रहता है। परन्तु परम योगी शैलेश अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली गुणस्थान के चरम समय और द्विचरम समय में संपूर्ण पुण्य और पाप कर्मों का समूल विनाश हो जाता है। पाप प्रकृति की यथायोग्य द्वितीयादि गुणस्थान में संवर एवं निर्जरा होती है। परन्तु विशिष्ट पुण्य कर्मों का संवर निर्जरा 14 वें गुणस्थान के नीचे होती नहीं है। परंतु उत्तरोत्तर गुणस्थान में अनुभाग शक्ति बढ़ती जाती है। परन्तु परिनिर्वाण के पूर्ववर्ती समय में संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण होई मइ-मोहो।
मइ मोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ।। (60)

अर्थः पुण्य से घर में धन होता है और धन से अभिमान, मान से बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि में भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है। इसलिये ऐसा पुण्य हमारा न हो।

टीकाः पुण्णेण इत्यादि। पुण्णे होइ विहवो पुण्णेण विभवो विभूतिर्भवति, विहवेण मओ विभवेण मदोऽहंकारो गर्वो भवति मएण मइमोहो विज्ञानाद्यष्टमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेक मूढ़त्वं भवति। मइमोहेण य पावं मति मूढ़त्वेन पापं भवति ता पुण्यं अहंमा तस्मूदित्थेभूतं पुण्यं अस्माकमाभूदिर्ति। तथा च इदं पूर्वोक्तं भेदाभेद रत्नत्रयाधनारहितेन दृष्ट, श्रुतानृभूत भोगाकांक्षारूप निदानबन्ध परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जित पूर्व भवे तदेव मदमहंकार जनयति बुद्धिविनाशंच करोति। न च पुनः सम्यक्तवादि गुणसहित भरत-सगर राम पांडव आदिपुण्य बन्धनवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदंजनयति तर्हि ते कथं पुण्य भाजना सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं

त्यक्त्वा मोक्ष गताः इति भावार्थ।। तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्।

''सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हदि दया शौर्य भुजे विक्रमे।
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिनिर्वृतेः।।''
प्राग्जनीहं तेऽपि निरहंकाराः श्रुतर्गोचराश्चित्रं संप्रति।
लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः।। (60)

भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखें, सुने अनुभवे भोगों की वांछारूप निदान बन्ध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव हैं। उससे पहले उपार्जन किये भोगों की वांछारूप पुण्य उसके फल से प्राप्त हुई घर की सम्पदा होने से अभिमान (घमंड) होता है, अभिमान से बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनंत दुःख पाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादिगुणसहित भरत, राम, पाण्डवादिक विवेकी जीव है उनका पुण्य बन्ध अभिमान उत्पन्न नहीं करता, परंपरा से मोक्ष का कारण है।

जैसे-अज्ञानियों को पुण्य का फल विभूति गर्व कारण हैं, वैसे सम्यग्दृष्टियों के नहीं हैं। वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहंकार आदि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद में भी निरहंकार रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथ में श्री गुणभद्राचार्य ने किया है कि पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं जिनके वचन में सत्य बुद्धि में शास्त्र मन में दया, पराक्रम रूप भुजाओं में शूरवीरता याचकों को पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है। वे निराभिमानी हुये जिनको किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध है। परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचमकाल में लेश मात्र भी गुण नहीं है तो भी उद्धतपना है, यानी गुण तो रंच मात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (परमात्म प्रकाश)

पाप भी उपादेय है

अथ येन पापफलेन जीवो दुःख प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवती तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयतिः।

वर जिय पावइँ सुन्दरइँ णावई ताई भणंति।
जीवहँ दुक्खहँ जाणिवि लहु सिवमई जाई कुणति।। (56)
वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति।
जीवानांदुःखानि जनित्वा लघुशिवमति यानि कुर्वन्ति।। (57)

टीकाः वर जिय इत्यादि। वर जिय वरं किन्तु हे जीव पावइ सुंदरइं पापानी सुन्दरानि समीचीनानि भणंति कथयन्ति। के। णाणिय ज्ञानिनः तत्ववेदिनः। कानि। ताइं तानिपूर्वोक्तानि पापानि। कथंभूतानि। जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमई जाइ कुणंती दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमति मुक्तियोग्यमति यानि कुर्वन्ति। अयमत्राभिप्रायः यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्माकं श्री धर्मं लभते जीवस्तत्पापजनित दुःखमपि श्रेष्ठमिति कस्मादिति चेत्। ''आर्ता नरा धर्म परा भवन्ति'' इति वचनात्।। (56)

अर्थः आगे जिस पाप के फल सह यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःख को दूर करने के लिये सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है। ऐसा दिखलाते हैं।

हे जीव! जो पाप के उदय से जीव को दुःख देकर शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपायों में बुद्धिकर दे तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ज्ञानी ऐसा कहते हैं।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहाँ पर महान् दुःख भोग उससे कोई समय किसी भी जीव के सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण है। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधन को (चेतावने को) जाते हैं। कभी कोई जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण-पूर्व भव का स्मरण और तीसरा-नरक की पीड़ाकारी दुःख से दुःखी होना, नरक को महान् दुःख का स्थान जानकर नरक के कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरम्भादिक हैं उनको खराब जान के पाप से उदास होना।

तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं। आगे के चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्मश्रवण तो है ही नहीं लेकिन जातिस्मरण है तथा वेदना कर दुःख हो के पाप से भयभीत होना वे दो ही कारण है। इन कारणों

को पाकर किसी जीव के सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस नय से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति में गया वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो वह कुगति भी श्रेष्ठ है। यही योगीन्द्राचार्य ने मूल में कहा है जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग में बुद्धि को लगावें, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं। तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ और देव से मरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस काम का? अज्ञानी का देवपना भी वृथा है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव हो के बहुत काल तक सुख भोग के देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावे तो वह भी अच्छा है।

ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पाप के प्रभाव से दुःख भोगकर उस दुःख से डर के दुःख के मूल कारण पाप को जानके उस पाप से उदास होवे, वे प्रशंसा करके योग्य हैं और पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। क्योंकि पाप क्रिया हमेशा निंदनीय है। भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के धर्म को जो धारण करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करते हैं तब भी ठीक, क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई महाभाग दुःख हुए ही धर्म में लवलीन होते हैं। (परमात्म प्रकाश)

दुःख में सुमिरन सब करै, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय।।

अर्थः साधारण संसारी जीव दुःख के समय में धर्म का आचरण करता है। परन्तु धर्म के कारण किंचित् सुख प्राप्त होने से धर्म को ही भूल जाता है। पापादिक क्रियाओं में लग जाता है, तब पुनः दुःख प्राप्त होता है। यदि जीव सुख के समय में भी धर्म आचरण करने लगेगा तो कभी दुःख नहीं होगा।

कृत्वा धर्मविघातं विषयासुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुन् मूलात् फलानि गृणन्ति ते पापाः।। (24)

अर्थः जो मोही कामअंधा, विषयासक्त, जीव अज्ञानता से धर्म को नष्ट करके विषय सुखों का अनुभव करते हैं वे पापी वृक्ष को जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते हैं। अर्थात् पूर्व पुण्य कर्म के उदय से जो कुछ वैभव मिला

है उस वैभव में लीन होकर जो केवल भोगासक्त होता है वह पूर्व उपार्जित पुण्य का पूर्णरूप से भोग करता है। परन्तु नवीन पुण्यार्जन नहीं करता जिससे पाप ही पाप उसके पल्ले में रहता है। उससे वह नरक निगोद में जाता है। इसलिये पूर्वोर्जित पुण्य से वैभव मिला उसको बिना त्यागे भोग करने से उस पुण्य से उसकी दुर्गति हुई इस प्रकार से पुण्य हेय हैं। (आत्मानुशासन)

मिथ्यादृष्टि को पापानुबन्धी पुण्य से जो वैभव की प्राप्ति होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टि लीन होकर आसक्ति पूर्वक भोग करता है किन्तु त्याग नहीं करता उसका वैभव अर्थात् पुण्य फल संसार का कारण है। इसलिये उसका पुण्य कर्म परंपरा से मोक्ष का कारण नहीं है। किन्तु संसार का कारण होता है अर्थात् पुण्य फल रूप वैभव को प्राप्त कर जो आसक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टि है। रागी बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य ही पुण्यानुबंधी पुण्य है, सम्यग्दृष्टि पुण्यरूप वैभव को प्राप्त कर उसमें आसक्ति पूर्वक लीन नहीं होता है। वह सोचता है, जानता है, मानता है कि वैभव मेरे आत्म स्वरूप से पृथक् है पुण्य कर्म का फल है कुछ चारित्र कर्म के उदय से आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे तिक्त औषध सेवन करता है। अनासक्तपूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि भोग को रोग मानकर निरूपाय होकर अनासक्तपूर्वक भोगता है। वह अनासक्तपूर्वक भोगते हुए कर्म को बाँधता ही है परन्तु जितने अंश में अनासक्त भाव है उतने अंश में कर्म बंध नहीं होता है। परंतु अंतरंग में सतत भोगों की निंदा गर्हा करते हुए उन भोगों से छूटने के लिए रास्ता ढूँढ़ता रहता है।

जब तक जीव सम्पूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रहों से विरक्त नहीं हो पाता है जब तक स्वशक्ति के अनुसार दान, पूजा, गुरु सेवादि करते हुए पूर्व पुण्य का सदुपयोग करता है और अंत में समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को त्याग कर निर्ग्रंथ होकर व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय का साधन कर मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य परंपरा से मोक्ष का कारण है तथा मिथ्यादृष्टि का पुण्य परंपरा से संसार का कारण है।

''**आर्त नरा धर्मपरा भवन्ति**'' पाप कर्म के उदय से जीव को जब कष्ट उठाना पड़ता है उस समय में वह पाप कर्मों का स्वरूप समझकर पाप से निवृत्त

होकर धर्म में लगता है। जैसे नरक में तीव्र वेदना का अनुभव कर नारकी पाप फलों का चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इसी प्रकार जीव पापकर्म के फल से संतप्त होकर पाप से डरकर अधर्म छोड़कर धर्म करने लगता है। इसलिये संसार में विरक्त होने के लिये एवं धर्म में प्रवृत्ति होने के लिय पापकर्म भी निमित्त है अर्थात् जिस पाप फल से दुःखों से, संताप से, संकटों से जीव भयभीत होकर धर्म में लगते हैं वह पाप भी उपादेय है। इसलिये भव्य जीवों को संबोधन करते हुये आचार्यों ने प्रेरणा दी है।

''सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्य।
सुखितस्यतद्भिवृद्धयैंदुःखभुजस्तदुपघाताय।।'' (18)

अर्थः हे जीव! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो, चाहे दुःख का अनुभव कर रहा हो, किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्था में एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख का कारण होता और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

अप्रमत्तविरत गुणस्थानः मोक्षमार्ग का पथिक जब मोक्षमार्ग के विपरीत जो अंतरंग-बहिरंग परिग्रह उसका त्याग करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। अनादिकालीन संस्कार एवं अनभ्यास के कारण जो कुछ आत्म-ध्यान के लिये बाधक कारणरूपी प्रमाद है उसको सतत ज्ञान वैराग्य रूपी शस्त्र द्वारा नष्ट करके स्वयं में लीन-स्थिर हो जाता है उसको ध्यान कहते हैं। उस आत्मस्थ अवस्था विशेष को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं।

जिस समय में मोक्षमार्गस्थ ज्ञानी समस्त प्रमादों को नष्ट करके व्रत-गुण-शील से मंडित होकर ध्यान में लीन होता है, परन्तु उपशम या क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं किया है उस समय में अप्रमत्त विरत आत्मावस्था होती है। अनादिकालीन संस्कार के कारण ज्ञानी मुनि ध्यानावस्था में सतत स्थिर नहीं है, इसलिये वह ध्यानावस्था से च्युत होकर प्रमत्त विरत अवस्था को प्राप्त होता है। पुनः शक्ति का संचय कर अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर के ध्यानलीन हो जाता है। इस प्रकार वह हजारों बार छट्ठवें से सातवें गुणस्थान में आता जाता रहता है।

उत्तम संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि महामुनि उपशम श्रेणी एवं क्षपककरण श्रेणी दोनों श्रेणी का आरोहण करते हैं। परन्तु उपशम श्रेणी वाले अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होने पर एवं क्रोधादि अन्यतर कषायों के उदय से ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिरकर यथायोग्य गुणस्थान को प्राप्त कर लेते है। और व्रजवृषभनाराचसंहनन धारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तद्भवमोक्षगामी चरमशरीर महामुनि जब क्षपक श्रेणी आरोहण करते हैं तब सातिशय सातवें गुणस्थान से निरालम्ब शुक्लध्यान को ध्याते हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान में धर्म ध्यान होता है वहाँ पर सालम्ब और निरालंब धर्मध्यान की मुख्यता है। उससे पूर्ववर्ती गुणस्थानों में छठ्ठवें, पाँचवें, चौथे में गौणरूप से धर्मध्यान होता है। धर्मध्यान उत्तरवर्ती गुणस्थानों में अर्थात् आठवें नवमें दसवें गुणस्थानों में भी होता है। इन गुणस्थानों में महामुनि समस्त प्रमाद से रहित होकर बाह्य क्रियाओं से विरत होकर निरंतर ध्यान में स्थिर होने के कारण उसके बाह्य आवश्यकादि क्रियाओं का परिहार हो जाता है। इसके पहले-पहले आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

क्षपक श्रेणी या उपशमश्रेणी आरोहण करने वाला जीव जब अपूर्वकरण गुणस्थान में पदार्पण करता है तब वहाँ पर पृथक्त्व वितर्क नामक शुल्क ध्यान प्रारंभ होता है। द्रव्य-गुण पर्यायों की संक्रमण अपेक्षा पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्लध्यान तीन प्रकार या अनेक प्रकार का होता है।

इन गुणस्थान में पूर्वोक्त प्रथम पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान होता है। यहाँ पर जीव के परिणाम विशुद्धि में निवृत्ति नहीं होती है। इसलिये इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान

धुदकोसंभुवत्थं, होदि जहा सुहुमएयसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो।। (58) (गो.जी.)

श्रेणी आरोहणकारी जीव आत्मिक विशेष विशुद्धि से राग को कर्षण करता हुआ जिस समय में सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त सूक्ष्म लोभ को वेदन करता है, उस समय में वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है। जैसे कुसंभ के रंग से रंगा हुआ वस्त्र सम्यक् रूप से बार बार धोने पर बहुत कुछ निकल कर सूक्ष्म लाल वर्ण से युक्त होता है।

उपशांत मोह गुणस्थान

कदकफल जुददलं बा सरए सरवाणियं व णिम्मलए।
सयलोवसंत मोहो उवसंत कसायओ होदि।। (61) (गो.जी.)

जैसे कतकफल के चूर्ण से युक्त जल निर्मल होता है अथवा मेघपटल से रहित शरदऋतु में जैसे सरोवर का जल ऊपर से निर्मल रहता है, वैसे ही पूर्ण रूप से मोह को उपशांत करने वाला उपशांत कषाय होता है। जिसने कषाय नोकषायों को उपशांत अर्थात् पूर्ण रूप से उदय के अयोग्य कर दिया है वह उपशांतमोह गुणस्थानवर्ती होता है।

क्षीणमोह गुणस्थान

णिस्सेस खीणमोहो फलिहामल भायणुदय समचित्तो।
खीणकसाओभण्णदिणिग्गंथोवीयरायेहिं।। (62) (गो.जी.)

सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक अंतिम समय में चारित्र मोह की प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेशों का बन्ध, उदय, उदीरण तथा सत्ता के व्युच्छित्ति होने पर उसके अनंतर समय में चारित्र मोह का भी पूर्ण रूप से विनाश होने पर जीव क्षीण कषाय होता है। उसका चित्त अर्थात् भावमन विशुद्धि परिणाम अतिनिर्मल स्फटिक पात्र में भरे निर्मल जल के समान होता है अर्थात् जैसे वह जल कलुषित नहीं होता है, उसी प्रकार यथाख्यात चारित्र से पवित्र क्षीण कषाय का विशुद्धि परिणाम भी किसी कारण से कलुषित नहीं होता है। वही परमार्थ निर्ग्रंथ है क्योंकि उसका कोई भी अंतरंग और बहिरंग परिग्रह नहीं होता है।

इस गुणस्थान में द्वितीय एकत्व वितर्क विचार ध्यान होता है।

जीवन-मुक्त सकल परमात्मा

केवलणाण दिवायर किरणकलापवप्पणासिय णणाणी।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो।।(63)(गो.जी.)

जिनने केवल ज्ञान रूपी सूर्य किरण समूह से पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रवीण, दिव्य ध्वनि के द्वारा, शिष्य जनों का अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया है, उन्हें केवलज्ञानी कहते हैं। इससे सयोग केवली भगवान् के भव्य जीवों का उपकार करने के रूप परमार्थ पदार्थ सम्पदा कही है तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र,

केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन नव केवल लब्धियों के प्रकट होने से जिन्होंने वास्तव में परमात्मा नाम को प्राप्त किया है। इससे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठि के अनन्त ज्ञानादि रूप स्वार्थ सम्पदा दिखायी है।

शैलेश-अयोगी जिन

सीलेसीं संपत्तो, णिरूद्ध णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरय विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि।। (65)

जो अठारह हजार शीलों के स्वामीपने को प्राप्त, समस्त आस्रवों के रूक जाने से जो नवीन बध्यमान कर्म रज से सर्वथा रहित होते हैं तथा मन-योग, वचन, काय-योग से रहित होने से अयोग जिन है। इस तरह जिनका योग नहीं है तथा केवली भी है वे अयोग केवली भगवान् परमेष्ठि है।

अरहंत का विशेष वर्णन

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादिहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा।। (45) (प्रवचन सा.)

पञ्चकल्याण पूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरंयतीर्थंकरनामपुण्यकर्म तत्फलभ्रता अर्हन्तो भवन्ति। तेषां सा दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादि क्रिया सा निः क्रियाशुद्धात्मतत्व विपरीत कर्मोदय जनितत्वासर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटं। निर्मोहशुद्धात्मतत्वप्रच्छादकमकाराहङ्करोत्पादन समर्थ मोहादि विरहितत्वाद्यतः तस्मात् सा यद्योप्यौदिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता।। (प्र.सा.)

तीर्थंकर अरहन्त भगवान् पुण्य फल स्वरूप है अर्थात् पञ्च महाकल्याण की पूजा को उत्पन्न करने वाला तथा तीन लोक को जीतने वाला जो तीर्थंकर नाम कर्म पुण्य उसके फल स्वरूप अरहन्त तीर्थंकर होते हैं तथा उन अरहन्तों की दिव्यध्वनि रूप वचन का व्यापार तथा शरीरादि के व्यापार रूप क्रिया स्पष्ट रूप से औदयिक है अर्थात् निष्क्रिय निज शुद्धात्म तत्त्व से उसकी क्रिया विपरीत है क्योंकि शुद्धात्मतत्त्व में कर्मोदय जनित किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं है। वह क्रिया मोहादिकों से अर्थात् मोह रहित निज आत्म तत्त्व के रोकने वाले तथा ममकार अहंकार को पैदा करने को समर्थ मोहादि से रहित हैं। इसलिये क्षायिक है, वहाँ पर

पुण्योदय रूप तीर्थंकर नाम कर्म के अत्युत्कृष्ट उदय से समवशरण में स्थित होकर के उपदेश करना और विहार करने रूप क्रिया होते हुए भी मोहनीय कर्म के अभाव से कर्मबन्ध नहीं होता है तथा साता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होते हुये भी वहाँ केवलज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि भले पुण्य प्रकृति के सद्भाव से साक्षात् सर्वकर्म विनिर्मुक्त रूप द्रव्य मोक्ष नहीं है परन्तु स्वात्मोलब्धि रूप भाव मुक्त होने में पुण्य प्रकृति बाधक नहीं है। घातिकर्म रूप पाप प्रकृतियों का सद्भाव रहते हुए भाव मुक्त (जीवन मुक्त) अवस्था प्राप्त हो नहीं सकती है।

सिद्धावस्था

अट्ठविह कम्मविलया णिट्ठिय कज्जा प णट्ठ संसारा।
दिट्ठसयलत्थ सारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।। (1) (ति.प.)

जो आठ प्रकार के कर्मों से विकल अर्थात् रहित है, करने योग्य कर्मों को कर चुके अर्थात् कृतकृत्य है, जिनका जन्म मरण रूप संसार नष्ट को चुका है और जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देख लिया है, अर्थात् जो सर्वज्ञ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठि मेरे लिये सिद्धि प्रदान करें।

णिरुवमरुवा णिट्ठिय कज्जा णिच्च णिरंजण णिरुजा।
णिम्मल बोधा सिद्धा णिरुवं जाणंति हु एक्कसमएणं।। (17) (ति.प)

अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, निरोग और निर्मल बोध से युक्त सिद्ध एक ही समय में समस्त पदार्थों को सदैव जानते हैं।

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीत बाधं विशालं।
वृद्धिह्रास व्येपतं विषय विरहितं निः प्रतिद्वन्द्व भावम्।।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्व कालम्।
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्।। (17) (सि.भक्ति)

सिद्ध भगवान् का अलौकिक परमसुख आत्मा में ही उत्पन्न, स्वयं अतिशय सहित, संपूर्ण बाधाओं से रहित, विशाल, विस्तीर्ण वृद्धि ह्रास से रहित, सांसारिक सुख से रहित, प्रतिद्वंद्व से रहित, परद्रव्य निरपेक्ष, उपमातीत, अपरिमित, शाश्वतिक, सर्वकाल स्थायी, परमोत्कृष्ट को प्राप्त अनन्त सार सहित महात्म्य से सहित है।

मैं हूँ समता सर्वधर्म की माता

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिए...)

मैं हूँ 'समता' सर्व धर्म की माता, सबसे अमूल्य भी हूँ।
भौतिक मूल्य बिन मेरी उपलब्धि, अनन्त सुख दात्री मैं ही हूँ।।
परम साम्यमय मैं हूँ मोक्ष, मोक्ष में ही होता अनन्त सुख।
मुझसे ही मिलता अनन्त सुख, भौतिक सम्पत्ति से न मिले यह सुख।। (1)
इस हेतु ही चक्रवर्ती भी बनते श्रमण, समता की वृद्धि हेतु करते ध्यान।
समता विरोधी तत्त्वों को करते त्याग, क्रोध-मान-माया-लोभादि करते नाश।।
क्रोध से क्षोभ व अक्षमा उपजे, जिससे क्षमारूप मेरा होता नाश।
क्रोध अभाव से मेरा होता विकास, अतएव क्षमा मेरा ही अंश।। (2)
मान से विनय का होता विनाश, जिससे मेरा भी होता ह्रास/(नाश)।
विनय बिन न तप-त्याग व संयम, अतएव विनय भी मेरा उपज।।
माया से आर्जव होता है निर्जीव, माया शल्य से सम्यक्त्व होता नाश।
सम्यक्त्व मेरी है प्रथम सन्तान, अतएव आर्जव मेरा प्रमुख अंश।। (3)
लोभ से शुचिता का होता विनाश, शुचिता बिन मेरी शक्ति नाश।
शक्ति बिन मुझसे न शिव सुख प्राप्त, अतएव शुचिता मेरा परम अंश।।
तथाहि नो कषाय से मैं होती मलीन, संकल्प-विकल्प-संक्लेश दीन।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि वर्चस्व, पर निन्दा अपमान से मैं बनूँ हीन।। (4)
आकर्षण-विकर्षण व विभाव द्वन्द्व, अशान्ति-विषमता परे मम स्वभाव।
सरल-सहज-निर्द्वन्द्व मेरा स्वभाव, निच्छल-निश्चल-निर्मल मम स्वभाव।।
मेरे हेतु ही समस्त तप व त्याग, ध्यान-अध्ययन व व्रत नियम।
उपसर्ग-परिषह सहन संयम दम, अहिंसा-अचौर्य ब्रह्मचर्य पालन।। (5)
मेरे बिना समस्त उक्त तप-त्याग, ईकाई बिन शून्य समान शून्य/(व्यर्थ)।
मैं हूँ धर्म के आदि-मध्य-अन्त सम, मेरे बिन समस्त धर्म कुधर्म शून्य।।
मेरे हेतु न धन-मान चाहिए, भीड़-प्रदर्शन न ढोंग चाहिए।

इन सब के त्याग से मेरा जन्म, क्योंकि मैं आत्मा का निर्मल परिणाम।। (6)
मुझे न प्राप्त कर सकते राजा रंक, मुझे प्राप्त करते निर्मोही सन्त।
सरल-सहज, निस्पृह-ज्ञानवन्त, वीतरागी-वीतद्वेषी-निर्द्वन्द्व सन्त।।
सर्वज्ञ जानते मेरा पूर्ण रहस्य, मुझसे ही बनते वे भगवन्त।
उन्होंने ही मेरा वर्णन किया विशेष, ''कनक सूरी'' मुझे ध्याये सतत।। (7)

समता परम धर्म

(समता हेतु मैं न करूँ, कुधर्मी-विधर्मी प्रति भी विषमता)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : पायो जी मैंने...)
पायोजी मैंने समता 'महाधर्म'/(महासूत्र, महा मंत्र, महा सुख) पायोऽऽ
जिस मंत्र से अनन्त दुःख नशे, ऐसा महाधर्म पायो।। (ध्रुव)
इसे प्राप्त हेतु चक्रवर्ती भी, त्यागते है राज्य वैभव।
परम समता से ही कर्मक्षय करके, पाते अनन्त/(आत्म) वैभव।।(1) पायो...
परम समता हेतु मैं श्रमण बना, समता साधे सो श्रमण।
इस हेतु यम-नियम-तप-त्याग, ध्यान-स्वाध्याय-एकान्त मौन।। (2) पायो...
दश धर्म-द्वादश अनुप्रेक्षा दम मैत्री, प्रमोद - कारुण्य-माध्यस्थ भाव।
उपसर्ग तथाहि परिषह सहन, केशलोंच से ले पैदल गमन।। (3) पायो...
जन्म-मरण व लाभ-अलाभ में साम्य, शत्रु-मित्र-भाई-बन्धु में।
अपना-पराया व धनी-गरीब में साम्य, सद्धर्मी-कुधर्मी-विधर्मी में।।(4) पायो...
अनादि काल से अनन्त काल तक, रहेंगे कुधर्मी-विधर्मी भी।
एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक, होते सभी (ही) कुधर्मी-विधर्मी।।(5)
ऐसा ही संसार का स्वरूप होता, ऐसा ही कहा सर्वज्ञों ने।
मैं ही रहा ऐसा अनन्त भवों में, अतः उनसे भी मैत्री-साम्य भाव।। (6)
''अहिंसा परमो धर्म'' इसे ही कहते, ''विश्व बन्धुत्व'' विश्व मैत्री'' भाव।
''जीओ और जीने दो'' सह अस्तित्व, ''परस्परोपग्रहो जीवानां'' महान् सूत्र।।(7)
विधर्मी-कुधर्मी-क्षुद्र जीव प्रति, ऐसा करूँ जब भाव-व्यवहार।

पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी कुधर्मी प्रति, कैसा (मैं) करूँ विषम भाव-व्यवहार।।
ऐसी परिस्थिति में मानव कुधर्मी प्रति, कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।
ऐसी परिस्थिति में मानव विधर्मी प्रति कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।।
ऐसी परिस्थिति में मानव सद्धर्मी प्रति, कैसे करूँ मैं विषम भाव-व्यवहार।
ऐसी परिस्थिति में मानव स्वधर्मी प्रति, कैसा करूँ विषम भाव-व्यवहार।।
अतएव रहूँ समस्त जीव प्रति, योग्य मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ।
किसी के कारण भी विषमता न करूँ, विषमता से नशे मेरा स्व/(सद्) धर्म।।
तीन काल-तीन लोक के मध्य में रहेंगे कुधर्मी-विधर्मी-विरोधी।
यह है संसार का विचित्र सत्य, सत्य को स्वीकारे सम्यग्दृष्टि।।(12)
अरिहंत-सिद्ध जानते विचित्र सत्य, तथापि न करते विषम भाव-व्यवहार।
मुझे भी बनना है अरिहंत-सिद्ध, अतः 'कनक' करे समता व्यवहार।।

निस्पृहता कारक अन्तरंग तप करूँ

(ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि सत्कार को दूर करने हेतु तप करूँ)

– आचार्य कनकनन्दी

(चाल : 1. मन रे! तू काहे...2.सायोनारा ...)
'कनक' तू अन्तरंग तपस्वी बनऽऽऽ
अन्तरंग तप योग्य बाह्य तप करो...अन्तरंग तपस्या प्रमुख करोऽऽऽ(ध्रुव)
इच्छा निरोध होती है तपस्या...तृष्णा-कांक्षा या निदान त्यागऽऽऽ
निस्पृह-निराडम्बर व अपरिग्रही बनो...ख्याति-पूजा-लाभ-सत्कार त्यागोऽऽ
निर्लोभी-संतोषी-शुचि बनोऽऽऽ कनक(1)
उक्त गुण प्राप्ति हेतु होती तपस्या...उक्त गुण बिन न होती तपस्याऽऽऽ
बहिरंग तप तो निमित्त भूत...अन्तरंग तपस्या करने हेतुऽऽऽ
अन्तरंग शुद्धि होती उपादानऽऽऽ कनक (2)
तव शरीर प्रकृति उष्ण व पित्त...उपवास-रस त्याग से बढ़े रोगऽऽऽ
जिससे अन्तरंग तप में विघ्न...न होते (सही) ध्यान-अध्ययन-लेखनऽऽऽ
वैयावृत्ति से ले प्रवचनऽऽऽ कनक (3)

बाह्य तप से अधिक श्रेष्ठ अन्तरंग तप...क्योंकि असंख्यात गुणीत कर्म निर्जरा हेतुऽऽऽ
अन्तरंग तप बिन बाह्य तप से...न होती असंख्यात गुणीत कर्म निर्जराऽऽऽ
खाद्य सामग्री बिन अग्नि से न बने भोजनऽऽऽ(कनक) (4)
अन्तरंग तप है स्व-दोष संशोधन...जिसे कहते हैं प्रायश्चित्त तपऽऽऽ
स्व-दोषों को जानो स्व-दोषों को मानो...स्व-दोष दूर हेतु बनो प्रयत्नवानऽऽऽ
यहाँ से तपस्या शुभारंभ ऽऽऽ कनक(5)
देव-शास्त्र गुरु-गुण-गुणी विनय...होती है महती तपश्चर्याऽऽऽ
विनय होता मोक्ष का द्वार...संयम-नम्रता व ज्ञानार्जनऽऽऽ
निगर्व व श्रद्धा-सन्मानऽऽऽ कनक(6)
उक्त गुण युक्त वैयावृत्ति करोऽऽऽ ज्ञानदान से सेवा सन्मानऽऽऽ
इससे तीर्थंकर प्रकृति बन्धऽऽऽवैयावृत्य महान् तप कर्म ऽऽऽ
इससे तन-मन स्वस्थ्य सबल ऽऽऽ कनक(7)
स्व-आत्म अध्ययन करना स्वाध्याय...स्वाध्याय है महान्तम तपऽऽऽ
तन-मन-इन्द्रिय-संयम ...होती असंख्यात कर्म निर्जरा ऽऽऽ
होता सातिशय पुण्य कर्म बन्धऽऽऽ कनक(8)
व्युत्सर्ग तप होता शरीर ममत्व त्याग...'मैं' नहीं शरीरमय जड़ द्रव्यऽऽऽ
'मैं' हूँ चैतन्य अमूर्त जीव द्रव्य...ऐसा चिन्तन व्युत्सर्ग तपऽऽऽ
वीतराग-विज्ञान चिन्तनऽऽऽ कनक(9)
उक्त तपस्याओं का फल है ध्यान... ध्यान हेतु ही सम्पूर्ण तप कर्मऽऽऽ
''एकाग्रचिन्तानिरोध'' होता ध्यान...इससे संवर-निर्जरा-निर्वाणऽऽऽ
इस हेतु ही तपस्या करणीयऽऽऽ कनक(10)
अन्यथा तपस्या से होता पतन...जिससे होता है आत्मा मलीनऽऽऽ
आत्ममलीन कारक तप न करूँ...शक्तितः तप त्याग अतः करूँऽऽऽ
आत्मोपलब्धि ही 'कनक' का ध्येयऽऽऽ कनक(11)

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समवशरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि ''हे भगवान्! श्री भरत चक्रवर्ती ने जिनदीक्षा को ग्रहण करने के पीछे कितने काल में केवलज्ञान उत्पन्न किया ? इस पर गौतमस्वामी

गणधर देव ने उत्तर दिया कि हे श्रेणिक राजन्! बंध के कारणभूत जो केश (बाल) हैं उनको पाँच मुष्ठियों से उखाड़ते ही अर्थात् पंच मुष्टि लोंच करने के अनन्तर श्री भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान को प्राप्त हुए।'' (वृहद द्रव्य संग्रह)

तत्राप्यद्य परित्याज्यं शैषो न स्तः स्वतःस्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्।। 240।। (आत्मा.)

"Then, again the first(good-activity) also is to be given up.The remaining(Two sets) Cease to exist by themselves.By giving up the good(activity), and attainnng the summit of furity one gts the supreme status (liberatin).

पूर्व लोक में जिन तीन को शुभ, पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

सुखं दुखं वा स्यादिह विहित कर्मोदयवशात्।
कुतः प्रीतिस्तापः कुल इत विकल्पाद्यति भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव।। 263।। (आत्मा.)

"in this world pleasures and pain arise out of the fuition of past Karmas.If one becomes unattchad to Considerations as to whom he shoul love and whom he should, hate then his past Karmas fall off, and a new on does not bind him.He, learned (assetic) shines forth like a jewel."

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुःख होता है उससे प्रीति भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है-राग और द्वेष से रहित होता है तो उसका पुराना कर्म तो निजीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के सामन प्रकाशमान होता है स्व और पर को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान से सुशोभित होता है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फल गलति स्वयम्।

स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः।।(246)

"He whose merit and demerit(Karmas) exhaust themeselves withut baring fruit is a(true) asectic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation."

जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निजीर्ण होते हैं, वह योगी कहा जाता है और उनके कर्मों का मोक्ष होता है. किन्तु आस्रव नहीं है।

शुद्धरूप से शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण से भगवान् आत्मा निरास्रव निर्बंध तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष विकल्प से रहित होने पर भी अनादिकाल से कर्म के आस्रव एवं बंध के कारण संसार अवस्था में परतन्त्र होकर अनन्त दुःख अनुभव कर रहा है। जब तक यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है, तब तक मोक्ष की बात तो दूरी ही है परन्तु मोक्ष के कारणभूत संवर एवं निर्जरा को भी नहीं कर पाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आंशिक संवर एवं निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। उत्तरोत्तर आध्यात्मिक सोपान का आरोहण करता जाता है, तब उत्तरोत्तर संवर एवं निर्जरा होती जाती है।

यह संवर, निर्जरा विशेषतः पाप कर्मों की होती है परन्तु पुण्य कर्मों की नहीं होती है क्योंकि भाव विशुद्धि से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घात नहीं होता है। सिद्धान्त शास्त्र कषायपाहुड़ के चूर्णिसूत्र में यतिवृषभाचार्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं-

''सुभागं कम्माणमणुभागघादोणत्थि'' (जय धवला)

शुभ कर्मों का अनुभागघात नहीं होता।

भाव विशुद्धि के माध्यम से पुण्यकर्म के अनुभाग घात तो नहीं होता है परन्तु वृद्धि होती है उस समय में पाप कर्मों का अनुभाग क्षीण हो जाता है।

''अणुभाग खंड़यमप्पसत्थ कम्मंसाणमणंताभागा।'' (कषाय पाहुड़)

अणुभाग कंडयमप्पसत्थाणं चेव कम्माणं होइ पसत्थ कम्माणं विसोहीए अणुभागबड्ढि मोत्तुण तग्घादाणुववत्तीदो।।

अनुभाग काण्डक अप्रशस्त कर्मों का ही होता है, क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त कर्मों की अनुभाग वृद्धि को छोड़कर उसका घात नहीं बन सकता।

''णवरि विसोहीए अणंतगुणाए वड्ढदि, सुहाणं कम्मंसाणमणंत गुणवड्ढिबन्धो, असुहाणं कम्माणमणंतगुणहाणि बंधो, बंधे पुण्णे पलिदोवमस्स संखेज्जदि भागेण हायदि।।'' (कषायपाहुड़)

इतनी विशेषता है कि वह प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। शुभ कर्मांशों का (अनुभाग की अपेक्षा) अनंतगुणवृद्धि के लिए बन्ध होता है तथा अन्तर्मुहूर्त काल तक होने वाले एक स्थिति बन्ध के पूर्ण(समाप्त) होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग कम स्थिति बंध करता है।

''पडिसमयमणंत गुणाए विसोहीए वड्ढमाणो अधापवत्तकरणो सुभाणं कम्माणं सादादीणमणंतगुण वड्ढीए अणुभागबन्धं कुणइ। असुभाणं पंचकम्माणं पंचणाणावरणादीणमणंतगुण हाणीए अणुभागबंधमोवड्ढदि। अण्णं च ठिदिबंधे अंतोमुहत्तकाल-पड़िबद्धे पुण्णं अण्णं ठिदिबंधमाढवेमाणो पलिदोवमस्स संखेज्जदि भागेण हाइदूण बंधइ विसोहि परिणामस्सठिदिबंधवुड्ढि विरुद्ध सहावतादो त्ति'' (कषायपाहुड)

प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अधःप्रवृत्तकरण में स्थित जीव सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों का अनंतगुणी वृद्धि के लिए हुए अनुभाग बन्ध करता है। पाँच ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों का अनंतगुणी हानिरूप से अनुभाग बन्ध का अपर्वतन करता है तथा अन्य अन्तःमुहूर्त काल सम्बन्धी स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर अन्य स्थिति बन्ध का आरम्भ करता हुआ पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति को घटाकर बाँधता है, क्योंकि विशुद्धि रूप परिणाम स्थिति बन्ध की वृद्धि के विरुद्ध स्वभाव वाला होता है।

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा रसस्स खंडाणि।
सुहपयडीणं णियमाणत्थि त्ति रसस्स खण्ड़ाणि।।(80)

अप्रशस्त प्रकृतियों के अनन्त बहुभाग का घात होता है। प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नियम से नहीं होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव अनन्तकाल रहते हुए भी जीव पुण्यानुबंधीपुण्य का सम्पादन कभी भी नहीं कर पाता है। चतुर्थ गुणस्थान से पुण्यानुबंधी पुण्य का सम्पादन प्रारम्भ होता है, साथ-साथ मिथ्यात्व गुणस्थान से असंख्यातगुणि पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान से असंख्यातगुणित पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान में प्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग चतुर्थगुणस्थान से अधिक होता है एवं चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान में पाप कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणित अधिक होती है। छठे गुणस्थान में पंचम गुणस्थानों से अधिक पाप कर्मों की निर्जरा अधिक से अधिक होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर गुणस्थानों का यही क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पाप कर्मों का क्षय होता जाता है तथा विशिष्ट पुण्य कर्मों का विशेषतः क्षय नहीं होता है। तेरहवें गुणस्थान प्राप्त करते-करते सम्पूर्ण घातिकर्म रूपी पापकर्मों का क्षय हो जाता है। वहाँ पर विशिष्ट पुण्यकर्म अमृत के समान अनन्त अनुभाग को उदय में लिये हुए आते हैं।

अनेक पुण्यकर्म का तीव्र उदय 13वें गुणस्थान में होते हुए भी आत्मा के अनंतज्ञान, दर्शन, सुख-वीर्य रूपी अनुजीवी गुणों का घात नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि विशिष्ट पुण्यकर्म आत्मा के घातक नहीं है। भले पुण्यकर्म रहते हुए सम्पूर्ण मोक्ष नहीं मिलता है तो भी जीवन मुक्त होने के लिए अनन्त चतुष्टय का अनुभव करने के लिये कोई बाधक नहीं है। यदि बाधक होता है तो जीवनमुक्त तेरहवें गुणस्थान में अनन्त चतुष्टय का अनुभव जीव नहीं कर सकता था। इस अपेक्षा जैन धर्म में पुण्य को साक्षात् बंध एवं संसार का कारण कहा है क्योंकि पुण्य की सत्ता चौदहवें गुणस्थान तक है और चौदहवें गुणस्थान तक संसार अवस्था बंध अवस्था है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य पर पदार्थ होने से और पर पदार्थ का संयोग अशुद्ध अवस्था एवं वैभाविक अवस्था को उत्पन्न करने के कारण पुण्य बंध हेय एवं संसार का कारण है। यदि एकान्तः सातिशय पुण्यबंध संसार का कारण होता तब मिथ्यादृष्टि से अविरतसम्यग्दृष्टि अधिक संसारी होता, उससे पंचम

गुणस्थानवर्ती अधिक से अधिक संसारी होते क्योंकि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पुण्य बंध होता है, परन्तु आगम सिद्ध सिद्धान्त यह है कि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में पुण्य का अनुभाग अधिक होने पर उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव पूर्व-पूर्व गुणस्थानवर्ती जीवों से परीत से परीत संसारी है।

बंदी आभा को करें मुक्त

सत्य छिपा है हमारे भीतर; यह बाहरी वस्तुओ से नहीं होता उदय, आप भले ही जो भी सोचें। हम सबके भीतर है, एक गुप्त केंद्र , जहाँ पूर्ण सत्य का है वास हमें इस बंदी आभा को मुक्त करने की बजाए ध्यान देना है कि प्रकाश को भीतर आने के लिए एक मार्ग दिया जा सके...! भावार्थ, रॉबर्ट ब्राउनिंग

हार्वर्ड के विलियम जेम्स लिखते हैं, ''मेरी पीढ़ी की सबसे महान् क्रांति यही है कि लोग, अपने-अपने मन की आंतरिक प्रवृत्तियों में बदलाव ला कर, अपने जीवन के बाहरी पक्षों को बदल सकते हैं।''

आप और आपका मन असाधारण हैं। आपके पास सौ बिलियन मस्तिष्क कोशिकाएँ है, जिनमें से प्रत्येक नाड़ी और कक्यु अन्य बीस हजार मिलियन कोशिकाओं से जुड़ी है। इस तरह आपके द्वारा सोचे जाने वाले विचारों की संख्या 100 बिलियन की 20,000 वीं पावर के बराबर होगी।

इसका अर्थ होगा कि मस्तिष्क विशेषज्ञ टोनी बुज़ान के अनुसार, आप जिन विचारों को पैदा कर सकते हैं, उनकी संख्या 1 की साथ, जीरों के आठ पन्नों के बराबर होगी, संभावित विचारों की यह संख्या ज्ञात ब्रह्माण्ड के सभी अणुओं से कहीं अधिक है। (ब्रायन ट्रेसी)

समय का उपयोग

सम्माइट्ठी कालं बोलई वेरग्गणाण भावेण।

मिच्छाइट्ठी वांछा खवई दुब्भावालस्स कलेहें हि।। (57) रयण.

पद्यभावानुवाद –

सम्यग्दृष्टि जीव काल व्यतीत करता है ज्ञान और वैराग्य में।

मिथ्यादृष्टि जीव काल व्यतीत करता है वांछा, दुर्भाव, आलस कलह में।।

भरत क्षेत्र में अवसर्पिणीकाल

अज्जवसप्पिणि भरहे पउरा रूद्दट्ठ झाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पाविट्ठा किण्हानील काउदा।। (58)

पद्यभावानुवाद-

अवसर्पिणी वर्तमान में भरत क्षेत्र में प्रचुर हैं अति रौद्र ध्यानी।
नष्ट, दुष्ट, कुष्टी, पापिष्ठ कृष्ण-नील-कापोत लेश्या वाले।।

सम्यग्दृष्टि जीवों की दुर्लभता

अज्जवसप्पिणि भरहे पंचमकाले मिच्छ पुव्वया सुलया।
सम्मत्तपुव्व सायारणयारा दुल्लहा होंति।। (59) रयण.

पद्यभावानुवाद

अभी अवसर्पिणी भरत क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ।
सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक व श्रमण होते हैं दुर्लभ।।

अवसर्पिणी काल में भी धर्मध्यान होता है

अज्जवसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमाद रहियमिदि।
जिणुदिट्ठं णहुमण्णइ मिच्छादिट्ठी हवे सोहु।। (60) रयण.

पद्य- आज भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी में होता धर्म ध्यान अप्रमत्त में।
जिनेन्द्र देव कहा हुआ जो न मानता वह होता है मिथ्यादृष्टि।।

समीक्षा- अभी भरत क्षेत्र में होते हैं मुनि छट्ठे-सप्तम गुणस्थान में।
वे करते हैं धर्मध्यान ऐसी जिनवाणी को जो न माने सो मिथ्यात्वी।।

कलिकाल की महिमा

सर्वत्र भौतिकवादी चार्वाक मतानुयायी व्याप्त

(राग : कसमें वादे प्यार वफा सब...)

घोर कलिकाल पञ्चम काल-हुण्डावसर्पिणी भौतिक काल।
कलयुग व टेन्शन(युग) काल-प्रदूषण युत रोगों (का) काल।। टेक।।
कलिकाल की महिमा देखो...चार्वाक सर्वत्र देखोऽऽऽ
चार्वाक मत के प्रचार बिना...चार्वाक मत को सभी ने मानाऽऽऽ।। कलयुग।।
दिखावा में कोई ईश्वरवादी...अन्य कोई अकर्त्तावादी।
एकेश्वर को मानता कोई...बहुदेववादी मानता कोई...ऽऽऽ।। कलयुग।। (2)
किन्तु व्यवहार भाव में भिन्न...भौतिक दृष्टि से सभी अभिन्न।
प्राच्य पाश्चात्य में नहीं भिन्नता...धर्मी-अधर्मी में धन की चिन्ता...।। (3)
ज्ञान-विज्ञान कला वाणिज्य...शिक्षा राजनीति धर्म व न्याय।
कुटुम्ब समाज गुरु सम्बन्ध...सबमें भौतिक लाभ सम्बन्ध।। कलयुग।। (4)
भौतिकता का मोह का जोश...शिक्षा व धर्म में हुआ प्रवेश।
दोनों क्षेत्र तो आत्मिक क्षेत्र...दोनों से होता गुण विकास।। कलयुग।। (5)
धन के द्वारा धन निमित्त...धन के ही हुए दोनों भी क्षेत्र।
धन के बिना न दोनों सम्भव...धन से खरीदें दोनों ही क्षेत्र।। कलयुग।।(6)
धनहीन जो भिक्षु भिक्षुक...उनसे दूर दोनों ही क्षेत्र
इसीलिए भिक्षु धन लोलुपी...भिक्षुक करता धन की चोरी।। कलयुग।। (7)
पूर्व में ज्ञान का दान होता था...चक्री त्यागी/(साधु) भिक्षु होता था।
दोनों के हेतु त्यागी होते...विद्यार्थी व साधु वेश लेते।। कलयुग।। (8)
विश्वगुरु हुआ था इसी से देश...अभी हुआ है भ्रष्टों का देश।
भ्रष्टाचार मुक्त देश निमित्त...भौतिकवाद से बनो है मुक्त।। कलयुग।। (9)
कोरा उपदेश नारों को छोड़...भौतिकता से मोह को तोड़।
कथनी-करनी एकता कर...धर्म के मार्ग में सतत चल।। कलयुग।। (10)
धर्म ग्रन्थ व अनुभव में...जो कुछ पाया लिखा पद्य में।
'कनकनन्दी' तो भावना भाये...विश्व में सर्वत्र मंगल छाये।। कलयुग।।(11)

कलियुग की अच्छाइयाँ एवं बुराइयाँ

(वर्तमान काल की उपलब्धियां एवं समस्याएँ)

(राग : रघुपति राघव...2. जय हनुमान ज्ञान गुणसार...)

कलिकाल है पंचमकाल...कल कारखाना युक्त काल।
उत्थान-पतन कलह-सुलह...विचित्रता युत यह काल।। (स्थायी)
भौतिक शोध-बोध प्रगति...तीव्र संचार युत काल।
लोकतन्त्रमय शासन प्रणाली...वैश्विक कुटुम्ब वाला काल।
विद्युत चलित यंत्रों के कारण...काम होते अतिशीघ्रता से।
कृत्रिम प्रकाश यात्रा के साधन...चिकित्सा भी होती शीघ्रता से।।...(1)
आक्रमण तथा प्रति आक्रमण...दिग्विजय के युद्ध न होते।
अभी न होते पूर्वकाल सम... दासों के क्रय व युद्ध न होते।
दास प्रथा अभी कानून से बन्द...सर्वमानव अधिकार सम।
पशु क्रूरता भी निवारण...सर्वधर्म का अधिकार सम।।...(2)
इत्यादि अच्छाइयाँ इसी काल में...कुछ समस्याएँ वृद्धि भी हुई।
नाना प्रदूषणों की हुई वृद्धि...मानसिक रोगों की हुई वृद्धि।
जिससे बढ़े है शारीरिक रोग...मोटापा मधुमेह ब्लड प्रेशर।
हृदय आघात व कैंसर रोग...जिससे जीवन बना है दूभर।।...(3)
पृथ्वी बन रही संयुक्त परिवार...परिवार में नहीं प्रेम-आदर।
मानव की भीड़ बहु बढ़ गई मानव की दूरियाँ बहुत बढ़ गई।
भौतिक लालसा बहुत बढ़ गई...पढ़ाई-लिखाई की बाढ़ आ गई।
नैतिक आध्यात्मिक दुर्लभ हो रहा...जिससे सच्चा सुख दूर हो रहा।।...(4)
प्रदूषणों से ग्लोबल वार्मिंग वृद्धि...जिससे बाढ़ व सूखा बढ़ रहा।
जल खाद्याभाव अधिक बढ़ रहा...भौतिकता का कुफल मिल रहा।
इसमें भी मानव दोषी है अधिक...जिससे कुफल भी मिले अधिक।
अभी तो मानव दोष निवारो...सुख प्राप्ति के उपाय करो।।...(5)
कनकनन्दी का आह्वान सुनो...भौतिक छोड़कर नैतिक बनो।
नैतिकता से तू आत्मिक बनो...परम सुख के भोगी भी बनो।।...(6)

आध्यात्मिक साधनारत संत ही कलिकाल के आदर्श

(चाल : बड़ा नटखट है रे!...)

धन्य! धन्य! है! आध्यात्मिक संतऽऽऽ

पञ्चम(कलि) काल में भी साधनारतऽऽऽ होऽऽऽ

ख्याति पूजा लाभ राग-द्वेष रिक्तऽऽऽ आत्म साधना में(सतत) अनुरक्तऽऽऽ

हुण्डा अवसर्पिणी का यह पञ्चम कालऽऽऽ तीर्थंकर गणधर ऋद्धि से रहितकाल

उत्तम संहनन रिक्त प्रदूषित काल, पौष्टिक भोजन-उत्तमजन रिक्त काल(1)

श्रद्धा-प्रज्ञा से हीन होते हैं जनऽऽऽ सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि चाहते जनऽऽऽ

फैशन-व्यसन-भोग-उपभोग में रतऽऽऽ दान दया सेवा में कम अनुरक्तऽऽऽ

धन्य! धन्य! है...(2)

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा छिद्रानुवेषण रक्तऽऽऽ शील-संयम-अनुशासन में न अनुरक्त

निस्पृह पवित्र भाव से न करे धर्मऽऽऽ दिखावा स्वार्थ से पाले रूढ़ि से धर्म (3)

विपरीत स्थिति में भी (आप) साधनारतऽऽऽ अपेक्ष-उपेक्षा-प्रतीक्षा रहित चित्त

समता-शांति-निस्पृह से साधनारतऽऽऽ आपका आदर्श विश्व के लिए श्रेष्ठऽऽऽ

धन्य! धन्य! हे!..(4)

आपके एक वर्ष की साधना का फलऽऽऽ चतुर्थ काल के सहस्र वर्ष साधना समऽऽऽ

'वर्तमान में आप ही जीवन्त धर्मऽऽऽ 'कनक' माने भाव से आपको आदर्श(5)

स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारंभ

(नैतिकता से परे भी है आध्यात्मिकता)

(नैतिकता बिना धर्म नहीं व केवल नैतिकता ही धर्म नहीं)

(चाल : शत-शत वंदन...,आत्मशक्ति...)

भोगभूमि के तिर्यंच मनुष्य भी, नहीं भोगते हैं सप्त-व्यसन।

क्रोध-मान-माया-लोभ भी होता (है) मंद, बाह्य पंच पाप भी न करते सेवन।।

भले वे होते हैं सम्यग्दृष्टि अथवा, मिथ्यादृष्टि या अभव्य।

सभी ही मानव पशु-पक्षी भी, पालन करते हैं उक्त कर्त्तव्य।। (2)

मिथ्यादृष्टि जीव जो होते यथायोग्य, उपरोक्त गुणों से सहित भी होते ।
देव दर्शन भी करते वे देव, तथापि वे न होते सच्चे धार्मिक।। (3)
इसी से यह सिद्ध होता (है) उक्त सभी, कर्त्तव्य होते है नैतिक गुण।
व्यक्ति से लेकर विश्व मानवों को, पालनीय उपरोक्त कर्त्तव्य गण।। (4)
तन-मन-इन्द्रिय स्वास्थ्य के लिए, तथाहि सामाजिक सुव्यवस्था हेतु।
हर मानवों को प्राकृतिक रूप से, सेवनीय उक्त गुण सभ्यता हेतु।। (5)
यथा मछली तैरती (है) पानी में अंतरिक्ष में उड़ते (हैं) विहंगम।
तथाहि सभ्य नैतिक मानवों को, पालनीय उक्त कर्त्तव्य गण।। (6)
निरतिशय होता पुण्य बंध किन्तु,न होता सातिशय पुण्य बंध।
सांसारिक तुच्छ भोग मिले किन्तु, नहीं मिलता है मोक्ष सुख।। (7)
इसी से आगे धर्म होता प्रारंभ, जो होता है आध्यात्ममय।
आत्मविश्वास व आत्मज्ञान सहित, आत्म परिणाम विशुद्धमय।। (8)
आत्मविश्वास में होता है श्रद्धान, मैं हूँ सच्चिदानंद अमूर्तमय
तन-मन-अक्ष राग द्वेषादि रहित, मैं शुद्ध-बुद्ध व आनंदमय।।(9)
तन-मनादि मेरे नहीं शुद्ध रूप, ये सभी तो विकारी कर्मज रूप।
इसी से परे होने के लिए होता है, लक्ष्य-आचरण भी होता तदनुरूप।।(10)
ऐसा श्रद्धान सहित जब पालन करता, उपरोक्त सभी नैतिक कर्त्तव्य।
तब ही बनते उक्त सभी कर्त्तव्य,धार्मिकमय आध्यात्मिक कर्त्तव्य।। (11)
उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विशुद्धि होने से, संसार शरीर से होता विरक्त।
ध्यान-अध्ययन व आत्म विशुद्धि से, अंत में पाता है कर्मो से मुक्त।।(12)
आगम में इसे कहते गुणस्थान आरोहण, चतुर्थ गुणस्थान से धर्म प्रारंभ।
स्व-शुद्धआत्मा की श्रद्धा व प्रज्ञा से, चतुर्थ गुणस्थान का होता प्रारंभ।। (13)
इससे अनेक शिक्षाएँ मिलती, जो सेवन करते सप्त व्यसन आदि।
वे सामान्य भद्र नैतिक भी न होते, कहाँ से होंगे वे धार्मिक आदि।। (14)
आत्म विशुद्धि बिन उक्त नैतिक गुणों से भी, कोई न होता है सच्चा धार्मिक।
धार्मिक होने हेतु आत्म विशुद्धि युक्त, सेवनीय उक्त नैतिक कर्त्तव्य।। (15)

नैतिक से भी श्रेष्ठ है आध्यात्मिक धर्म, जो नैतिक आत्म विशुद्धि संयुक्त।
नैतिक विहिन न होता है धर्म, नैतिकता न होती संपूर्ण धर्म।। (16)
नैतिक गुण बिन कोई न होता सभ्य/(सही) मानव, आत्म विशुद्धि बिना न होता धार्मिक।
दोनों से युक्त हो सभी मानव इसी हेतु, 'कनक' ने बनाया (यह) (पावन) शोध काव्य।। (17)

देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान है : सम्यग्दर्शन

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का जो, श्रद्धान करते हैं भव्य प्राणी।
वे होते है सम्यग्दृष्टि, कहती है श्री जिनवाणी।। (घृ)
देव की वर्तमान पर्याय ही, मेरी है भावी पर्याय।
मेरी पर्याय अभी तो अशुद्ध, देव की शुद्ध पर्याय।।
तप त्याग ध्यान अध्ययन से, मुझे भी बनना है देव/(शुद्ध)।
ऐसी जब होती है श्रद्धा/(आत्मविश्वास), तब होता है सम्यक्त्व।।(1)
स्वयं के द्रव्य गुण-पर्यायों को, जानता है जिनवाणी से।
मैं हूँ जीव द्रव्य मुझमें चैतन्य गुण अशुद्ध हूँ (पर्याय) मैं अनादि से।।
जिनवाणी से जानता है द्रव्य, तत्त्व व नव पदार्थों को।
स्वयं में भी उन द्रव्यादि को, घटित करता है स्वयं को।। (2)
स्वयं में भी होते हैं आस्रव बंध, संवर निर्जरा व मोक्ष।
पुण्य-पाप भी स्वयं में होते, ऐसी श्रद्धा से होता सम्यक्त्व।।
देव स्वरूप होता है मोक्ष, शास्त्र है मोक्ष कथक।
गुरु होते हैं मोक्ष पथिक, तीनों के श्रद्धान से सम्यक्त्व।। (3)
मोक्ष पथिक है चारित्रमय, जो है रत्नत्रय आराधक।
मोक्षमार्ग के जीवन्त रूप, गुरु तरण-तारण जहाज।।
पंचमकाल में तो सच्चा गुरु ही, तीनों रत्न के हैं प्रतिनिधि।
देव को बताने वाले गुरु होते, पढ़ाते हैं वे श्री जिनवाणी/(श्रुतनिधि)।।(4)

इसी हेतु ही(सच्चे) देवशास्त्र गुरु का, श्रद्धान होता है सम्यग्दर्शन।
तीनों के माध्यम से स्व-श्रद्धान से होता है सम्यग्दर्शन।।
देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, स्व का जब होता है श्रद्धान।
तब होता है सम्यग्दर्शन, दर्पण से यथा स्व-बिम्ब दर्शन।।(5)
अंधा यथा दर्पण से भी न देख पाता है स्व-प्रतिबिंब।
तथाहि अभव्य व घोर मिथ्यादृष्टि को, नहीं होता है सम्यक्त्व।।
भद्र मिथ्यादृष्टि भी यदि करता है भक्ति तीनों की।
वह भी सांसारिक सुख भोगे, (ऐसी) शक्ति निरतिशय पुण्य की।। (6)
सम्यग्दृष्टि तो सातिशय पुण्य से, भोगता है सांसारिक सुख।
साधु बनकर पाये मोक्ष सुख, 'कनक' का लक्ष्य आत्म सुख।।
यथा दीपक के सम्पर्क से बुझा हुआ दीपक होता प्रज्ज्वलित।
तथाहि देवशास्त्र गुरु से, सम्यक्त्व होता प्रगट ।। (7)
चुम्बक के घर्षण से यथा, लोहा बनता है चुम्बक।
तथाहि देवशास्त्र गुरु की भक्ति/(श्रद्धा) से भव्य को होता सम्यक्त्व।।
अग्नि से(यथा) ईंधन अग्नि बनती, तथाहि निकट भव्य।
देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से, स्वयं में प्रगट करता सम्यक्त्व।। (8)
देवशास्त्र गुरु के माध्यम से, स्वगुण में ही हुआ सम्यक्त्व।
स्व-श्रद्धा प्रज्ञा के कारण, मिथ्या श्रद्धा हो गई सम्यक्त्व।।
अतएव हे! भव्य जीव, स्व-विभाव को करो परिवर्तन।
देवशास्त्र गुरु निमित्त से, पाओ तुम सम्यग्दर्शन।। (9)
देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, न करो हे! राग द्वेष मोह।
राग द्वेष मोह क्षय करके, पाओ हे! आध्यात्मिक सुख।।
छः द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ व देवशास्त्र गुरु श्रद्धान।
होता है व्यवहार सम्यग्दर्शन, स्व-शुद्धात्म रूचि निश्चय श्रद्धान।। (10)

(व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्व का समन्वय प्रायः शिष्य वर्ग नहीं कर पाते हैं उनको समझाने के लिए यह कविता बनी।)

आत्मोपलब्धि हेतु...

– आचार्य कनकनन्दी

(चाल : श्री राधा संग रे ...श्री हरी रंग रे..., होली खेले सुवाले2...(उड़िया...)
श्रद्धा की शक्ति से...प्रज्ञा की ज्योति से...आत्मा की खोज करो...2
इन्द्रिय-यंत्रों से...भौतिक-साक्ष्यों से...आत्मा की लब्धि परे...(ध्रुव)...
आत्मा है अमूर्त... चैतन्य गुणवन्त...आत्म-अनुभव से ज्ञात...2...
यथा आकाश भी ...इन्द्रिय यंत्रो से...नहीं हो पाता है ज्ञात...(1)
सत्ता-संपत्ति व ...प्रसिद्धि डिग्री से...आत्म-उपलब्धि न होती...2...
इससे आसक्त जीव को...आत्म-गुणों से...होती है विरक्ति...(2)
इससे अनासक्त...ज्ञान-वैराग्य युक्त...जीवों को होती आत्मोपलब्धि...2...
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध रिक्त...जीव को होती आत्मोपलब्धि...(3)
आत्मोपलब्धि ही...परम उपलब्धि...अनंत ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय...2...
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी'...सतत करे है...ध्यान व अध्ययन...(4)

पशु-पक्षी-देव-नारकी-नर-नारी भी होते है जैन(सम्यग्दृष्टि आदि)

(चाल : आत्मशक्ति..., तुम दिल की धड़कन...)
कितना पावन कितना उदार है कितना व्यापक जैन धर्म प्यारा।
परम सर्वोदय परम अन्त्योदय आध्यात्मिक वैश्विक धर्म न्यारा।।
जैन धर्म को पाल सकते है पशु-पक्षी देव-नारकी नर-नारी।।
जो मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के उपशमादि से बनते सुदृष्टि प्राणी।।(1)
समवशरण की बारह सभा में जो होते हैं वे सभी होते सुदृष्टि।
द्वादश कोठे में तो केवल तिर्यंच ही होते सिंह व्याघ्र सर्प नेवला आदि।।
चारण ऋद्धिधारी मुनि के उपदेश से सिंह भी बन गया था सुदृष्टि।
वही सिंह आध्यात्मिक विकास द्वारा बना है तीर्थंकर सन्मति।। (2)
तीर्थंकर पारसनाथ भी पूर्व भव में थे सम्यग्दृष्टि हाथी।

जटायु पक्षी भी था सम्यग्दृष्टि क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक अभी (भी) नारकी।।
असंख्य देव होते हैं सम्यग्दृष्टि कुछ तो होते क्षायिक सम्यग्दृष्टि।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शुद्र नर-नारी भी होते यथायोग्य(तीनों प्रकार) सुदृष्टि।। (3)
चारो गति में होते सुदृष्टि जिसे कहते प्राथमिक जैन धर्मी।
नारकी देवों में होते प्राथमिक जैन तिर्यंच में होते व्रती/(श्रावक) भी।।
ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तो हो सकते हैं पाँचों-परमेष्ठी भी।
शुद्र भी होते हैं प्राथमिक जैन से लेकर व्रती श्रावक भी।। (4)
नारी भी हो सकती है प्राथमिक जैन से लेकर आर्यिका तक भी।
सुद्रव्य क्षेत्रकाल भावानुसार आत्मविशुद्धि से बनते जैन धर्मी।।
जैन धर्म तो आत्म स्वभाव है इसे न भौतिकता से प्राप्त करना संभव।
जैन धर्म है आत्म विजयी धर्म जो विजय करे राग द्वेष मोहादि पर।।(5)
आध्यात्मिक क्रम विकास द्वारा भव्य जीव ही बनते भगवान्।
भगवान् बनने हेतु 'कनकनन्दी' बना है आध्यात्मिक श्रमण।। (6)

निदान से दुर्गति (दृष्टान्त)

पूर्व जन्म में जो दुष्ट कपिल था, वह संसार-बन में घूमने लगा। योग्य ही है, कि पाप से कभी किसी का भला होता है? संभूतरमण नामक बन में ऐरावती नदी के तट पर तपस्वियों के आश्रम में रहनेवाला कोशिक नामा ऋषि था। उसकी पत्नी का नाम चपलवेगा था। संसार में घूमनेवाला यह कपिल उन दंपती का मृगशंङ्क नामक पुत्र हुआ। वह अपने पिता के समान ऋषि हो गया।

दृष्टा चपलवेगस्य विभूतिं खेचरेशितुः।
निदानमकरोन्मूढोऽशनिघोषस्ततश्च्युतः।। (222)

चपलवेग नामक विद्याधर का वैभव देख उस मूढने आगे के भव में मुझे ऐसा ही वैभव मिले इस तरह निदान किया। तदनंतर आयु समाप्त होने से मरकर अशनिघोष विद्याधर हुआ। पूर्व जन्म के स्नेह के वश होकर वह सौंदर्य से चमकनेवाली सुताराको हठ से हरण कर ले गया। हे अमिततेज, तू अब यहा से पाँचवें भव में चक्रवर्ती तीर्थंकर शांतिनाथ होनेवाला है। यह सब वृत्तान्त सुनकर

अशनिघोष उसकी माता आसुरी, स्वयंप्रभा, सुताराआदि और अन्य भव्यों ने भी उत्तम संयम धारण किया। चक्रवर्तीपुत्र श्रीविजय, आदि भूपाल जिनेश्वर को वंदनकर पताकाओं से सुशोभित अपने अपने नगर को अमिततेज विद्याधरप्रभु के साथ गये। शुभकार्य-तत्पर शांतकषायी अर्ककीर्तिपुत्र अमिततेज पर्वतिथियों में प्रोषधोपवास, व्रताचरण में दोष लगने पर योग्य प्रायश्चित्त-धारण, जिनेश्वर का अष्ठ द्रव्यों से पूजन, सुपात्रों को दान देना ये कार्य करता था। उत्तम धर्म की कथाओं का श्रवण करते हुए उसने निर्दोष निर्मल और शांतिदायक सम्यग्दर्शन धारण किया। अपने पिता के समान प्रजाओं का पालक, संयमी के समान ममता को धारण करनेवाला, इहलोक परलोक के हितकार्य में तत्पर अमिततेज विद्याधरेश देवपूजादिक षट्कर्म स्वयं आचरता हुआ प्रजाओंको भी इन कर्मों में तत्पर करता था। प्रज्ञप्ति, अग्रिस्तंभनी, जलस्तंभनी, कामरूपिणी, विश्वप्रकाशिका, अप्रतीघातकामिनी, आकाशगामिनी, उत्पातिनी, वशंकरा, आवेशिनी, शत्रुदमा, प्रस्थापनी, आवर्तनी, प्रमोहिनी, विपाटिनी, संक्रामणी, संग्रहणी, भंजनी, प्रवर्तिनी, प्रहापनी, प्रमादिनी, पलायिनी, निक्षेपणी, चाण्डाली, शबरी, गौरी, खट्वङ्गिका, श्रीमदुण्या, शतसंकुला, मातंगी, रोहिणी, कूष्मांडी, वरवेगा, महावेगा, मनोवेगा, चण्डवेगा, लघूकारी, पर्णलब्धी, चपलवेगा, वेगावती, महाज्वाला, शीतवैतालिका, उष्णवैतालिका, सर्वविद्यामुच्छेदा, बंधप्रमोचिनी, रावणी, युद्धवीर्या, भ्रमारी, भोगिनी आदि विद्याओं ने अमिततेज विद्याधरका आश्रय लिया था। ये विद्या विशिष्ट कुल और विशिष्ट जातिवाले विद्याधरों के द्वारा सिद्ध की जाती थी परंतु अमिततेज के विशाल पुण्योदय से इन विद्याओं ने उसका स्वयं आश्रय लिया था। अमिततेज विद्याधर इन विधाओं का और दोनों श्रेणिओं के विद्याधर-राजाओं का अधिपति हो के भूतल में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। भोगभोगनेवाला वह सुख से रहने लगा। किसी समय अमिततेज ने दमवर नामक आकाशचारण मुनिराज को आहार दिया तब आश्चर्यपंचककी प्राप्ति हुई। अर्थात् देव अहो दान, अहो दान इस प्रकार की स्तुति, रत्नवृष्टि, ठंडा सुगंधित पवन बहना, सुंगंधित जलवृष्टि होना, और आकाश में देववाद्यों का बजना इस प्रकार पंचाश्चर्यवृष्टि हुई। अन्य किसी समय में श्रीविजय और अमिततेज दोनों विद्याधरों ने सुरगुरु और देवगुरु ऐसे श्रेष्ठ मुनियों को देखकर वंदन किया।

उनसे धर्मश्रवण कर नम्रता से श्रीविजय अपने और अपने पिता के भवसंबंध पूछने लगा। श्रीविजयका प्रश्न सुनकर भगवान् मुनि ने उसके और विश्व को आनन्दित करनेवाले उसके पिता त्रिपृष्ठ के भव कहे।

तन्माहात्म्यं निशभ्यासौ तत्पदाप्तनिदानकः।
भूचरैः खचरैः सेव्यौ भेजतुस्तौ सुखामृतम्।। (241)

पिता के माहात्म्य को सुनकर श्रीविजय नारायाण पद की प्राप्ति का निदान किया। भूचर और खेचर राजाओं से सेवनीय ऐसे व भूपति और खगपति सुखामृत उपभोग लेने लगे। कदाचित् विपुलमति और विमलमति मुनियों के समीप दोनों राजाओं ने अपनी आयु मासमात्र अविशष्ठ है ऐसा सुना तब वे धर्म और दया करने में तत्पर रहें। अमिततेज राजा ने अपना राज्य अर्कतेज नामक पुत्र को दिया और श्रीविजय ने श्रीदत्त पुत्र को दिया। उन्होंने आठ दिन तक अष्टाह्निक पूजा की अनंतर नन्दनवन के समीप चन्दनवन में मुनियों के आश्रय से वे प्रायोपगमनमरण में उद्युक्त हुए। अर्थात् उन्होंने अपना वैयावृत्य स्वयं नहीं किया, और दूसरों के द्वारा भी नहीं करवाया। आहार तथा कषायों का त्याग कर पंचनमस्कार का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण छोड़े। तेरहवे कल्प में-आनन्तस्वर्ग नंद्यावर्त विमान में श्रीअमिततेज रविचूलनामक महर्द्धिक देव हुआ और श्रीविजयराजा स्वस्तिक विमान में मणिचूल नामक महर्द्धिक देव हुआ। बीससागरतक देवसुख का अनुभव लेने पर उन्होंने प्राणत्याग किया। अपराजित और अनंतवीर्य बलभद्र और नारायणपद के धारक थे। इस जम्बूद्वीप में पूर्वविदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश में प्रभावती नगर के अधिपति स्तिमितसागर राजा थे। उनको रानी वसुंधरा से रविचूलदेव अपराजित नामक पुत्र हुआ। मणिचूल देव भी अनुमति नामक रानी से लक्ष्मी संपन्न अनंतवीर्य नामक पुत्र हुआ। जैसे सूर्य प्रतिदिन उदित होता है वैसे ये दोनों राजपुत्र नित्योदय-नित्यवैभव से युक्त थे। सूर्य कमलों को प्रफुल्लित करता है वैसे ये दोनों राजकुमार श्री जगत् के नेत्ररूपी कमलों को विकसित करते थे। सूर्य पद्मों को आनंदित करता है। ये दोनों पद्मा-लक्ष्मी को आनंदित करते थे। इस प्रकार इन दोनों राजपुत्रोंने यौवन में प्रवेश कर अतिशय शोभा धारण की।

भूपः कुतश्चिदासाद्य वैराग्यमात्मजौ तकौ।
तदैव स समाहूय राज्ये संस्थाप्य निर्गतः।। (250-251)

स्तिमितसागर राजा को किसी कारण वैराग्य हुआ। उसने उसी समय अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर राज्यपर स्थापन पर स्वयंप्रभ जिनेश्वर के पास जाकर उनके चरणमूल में संयम धारण किया। उस समय धरणेन्द्र की ऋद्धि को देखकर उस पद की प्राप्ति के लिये स्तिमितसागर मुनिराज ने निदान किया। मरकर वह धरणेन्द्र हुआ। यह निदान सुख का नाश करनेवाला है अतः इसे धिक्कार है।

स्वयंप्रभजिनस्यान्ते प्रायासीत्संयमं नृपः।
धरणेन्द्रर्द्धिमालोक्य तत्पदाप्तिनिदानवान्।। (252)

(नारद का आगमन) उदारचित्त अपराजित और अनंतवीर्य ये दोनों राजा इंद्र प्रतीन्द्रि के समान पृथ्वी का रक्षण करने लगे। किसी समय एक राजाने बर्बरी और चिलातिका नामक दो सुखदायक नर्तकियां भेट के रूप में भेज दी। समीप स्थान में बैठे हुए अनेक राजाओं से भूषित वे दोनों भूपाल उन नर्तकियों का नृत्य देखने के लिये बैठे थे। उस समय नारद सभा में आ गये। परंतु नृत्य देखने में आसक्त होने से दोनों कुमारों ने ब्रह्मदेव के पुत्र-नारद को नहीं देखा। अतिशय प्रज्वलित कोप से संतप्त, आषाढमास के सूर्य के समान तपनेवाले, कलह उत्पन्न कर प्राणियों को दुःख देनेवाले, नारद दमितारिराजा की सभा में आये। सज्जनों में सेवित, अभीष्टासिद्धि के लिये अर्थीलोगों से सेवनीय ऐसे महापुरुष दमितारिको सिंहासन पर बैठा हुआ देखकर आकाशाङ्गण से नारद उतरे; तथा आशीर्वाद देकर सभा में खड़े हो गये। विद्याधरों के राजा दमितारि राजाने उनको कहा-''हे प्रभो आप भक्तोंपर दया धारण करते हैं, भक्तवत्सल दमितारि भव्य हैं, संसार भ्रमण को नष्ट करनेवाले हैं तथा जीवों को वैभव देनेवाले हैं। हे प्रभो, कुछ कार्य कहिये, किस हेतु से आपका आगमन हुआ है, कहिये?'' दमितारिका भाषण सुनकर नारद कहने लगे-''दे दमितारि राजन्, मैं आपके लिये सारभूत वस्तुओं को देखता हुआ फिरता हूँ। अपराजित राजा की सभा में रंभा और उर्वशी के समान सुन्दर दो नर्तकियां आपके योग्य देखी परंतु अपराजित'' के सभा में उनका रहना मैं सहन नहीं करता हूँ इस लिये तुम्हारे पास आया हूँ, क्यों कि चूड़ामणि पावों में रहना

मुझसे सहा नहीं जाता है। हे विद्याधराधीश, दीन के घर में रत्न के समान अपराजित और अनंतवीर्य के घर में वे शोभा नहीं पाती है। आपके घर ही में उनकी शोभा है। नारद के वचन सुनकर दमितारि राजा ने गुणों से स्फुरायमान ऐसे एक दूत को उपहार के साथ भेज दिया। दूत प्रभाकरी नगरी में गया। वहां उसने नरश्रेष्ठ अपराजित और अनंतवीर्य को देखा। उनके आगे भेट की चीजें रखकर इस प्रकार कहा ''दमितारि विद्याधराधीश, आप दोनों का रक्षण करते हैं। लक्ष्मीसंपन्न उस राजा ने आपके प्रति मुझे दो नर्तकियों की याचना करने के लिये भेजा है। आप प्रेमवृद्धि होने के लिये दमितारि महाराज को उन दोनों नर्तकियों को दे दीजिये। यह भाषण सुनकर दूत को उन्होंने बाहर भेज दिया। मंत्रियों को बुलाकर पूछा, कि इस समय कौनसा उपाय करना चाहिये और वे बैठ गये। इतने में उनके पास तीसरे भव की विद्यायें प्राप्त हो गई। उन्होंने ''हम शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं, आपका कार्य करने वाली है'' इस तरह अपना स्वरूप कहा। तब उन दोनों राजाओं ने मंत्री को प्रभाकरी नगर के रक्षण के लिये स्थापन किया और आप दोनों नर्तकियों का वेष धारण कर दूत के साथ चलकर शिवमंदिर नगर को आये। राजसभा में शोभायमान नृत्य शुरू किया, राजा को नृत्य देखकर आश्चर्य हुआ। राजा ने नृत्य का अभ्यास कराने के लिये कनकश्री को उन के हाथ में सौंप दिया। उसको उन्होंने गीतकला और नृत्यकला में निपुण किया। उन दोनों नर्तकियों ने शुभ विचार करनेवाली सुन्दर राजकन्या को अंनतवीर्य में आसक्त कर दिया। तदनंतर अनुरक्त हुई कनकश्री को लेकर ये दोनों नर्तकियां आकाश में चली गयीं।

आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव की निस्पृहता व सामाजिक/(लौकिक) कार्य न करने की प्रतिज्ञा!

(स्वज्ञाता-दृष्टा, कर्त्ता-भोक्ता मैं ही मेरा (निश्चय-व्यवहार से भी)

-आ. सुवत्सलमति माताजी

(चालः-ऐ मेरे दिल नादा...)

निस्पृह कनक गुरुवर, अद्‌भुत महिमा धारी।
अलौकिक शान्तिप्रिय, समता के भण्डारी।। (ध्रुव)

स्वपर विश्व हितकारी, लोकज्ञताधारी
आगम सिद्धान्त पटु, कल्याण रूप धारी
अन्त्योदय, सर्वोदय, शुभ भावना धारी।। (1) निस्पृह...
मोक्षमार्ग में बढ़ते ही, बाह्य प्रपंच त्यागा ऽऽऽ
धन-मान-ख्याति से दूर, निस्पृह व्रत भाया
विभाव भाव त्यागा, क्षुल्लक (1978) व्रत धारा।। (2) निस्पृह...
टी.वी. प्रसारण, संस्था निर्माण, पत्रिकादि विज्ञापन
भौतिक निर्माण हेतु भक्त-शिष्य निवेदन करे
निस्पृही अयाचक गुरु, इन सब से अलिप्त रहे।। (3) निस्पृह...
अनात्म कार्यों से सदा ही दूर रहे
दिखावा आडम्बर दूर, स्व से प्रतिस्पर्द्धा करे
अपरिग्रही यतिवर, निर्ग्रन्थ साम्यधारी।। (4) निस्पृह...
अनिन्दक, गुणग्राही, अपेक्षा-उपेक्षा नाहीं
देशी-विदेशी, जैन-अजैन, भक्त शिष्यों से मोह नाहीं
ख्याति, लाभ, प्रसिद्धि को, पुण्य की छाया माने।। (5) निस्पृह...
सांसारिक लौकिक चर्चा, विकथा कभी न करे
तंत्र-मंत्र, टोना, टोटका आत्म प्रवंचना न करे
आहार, विहार, निवास की कभी याचना न करे।। (6) निस्पृह...
आबाल वृद्ध वनिता, स्वेच्छा से सेवा करे
मन हर्षित होकर के स्व पुण्यार्जन करे
चतुः विध दान देकर, स्व को धन्य माने।। (7) निस्पृह...
गुरुवर की निश्रा में, स्व को धन्य माने
गुरुवर के प्रोत्साहन से, पद्य में गुणगान करे
सर्वांगीण विकास कर, परम लक्ष्य को वरे।। (8) निस्पृह...
वायरस महामारी में, डॉक्टर हाथ धोने को कहे
नाखून न बढ़ाओं, नेल पॉलिश न लगाओ
सोशल डिस्टेंस रखो, एकान्त में गुरु पालते।। (9) निस्पृह...

खांसी, छिंक, सर्दी में, अनेक जीवाणु निकले
वायु प्रदूषण होने से, क्षुद्र जीवाणु फैले
दशकों से गुरु कहते, वैज्ञानिक अभी कहते।। (10) निस्पृह...
गुरुदेव पुरोगामी, सभी का वर्णन किया
सुक्ष्मजीव से सिद्ध (जीव) तक, ग्रन्थों की रचना की
सरल सहज जीवन चर्या, ''वात्सल्य'' भण्डारी।। (11) निस्पृह...

गुणीगुरु से सुयोग्य शिष्य होते स्वयमेव प्रेरित

(चालः भातुकली....आत्मशक्ति....)

श्रद्धा-प्रज्ञा युक्त विनय व्यवहार करते (हैं) मानव अन्य से।
जब वे अनुभव करते हैं स्वयं न श्रेष्ठ उन से।।
छोटी रेखा स्वयमेव छोटी दिखाई देती है बड़ी रेखा से।
सूर्य-प्रकाश से चन्द्र-प्रकाश स्वयमेव विलिन हो जाता।।(1)

तथाहि तीव्र-मन्द शब्द सम महान-क्षुद्र में होता है।
''नमो गुरुभ्य गुणगुरुभ्य'' से महान् गुणी पूज्य होता है।।
फल से भारी शाखायें यथाहि स्वयमेव नम्र होती हैं।
गुणों से भरीत महान् व्यक्ति स्वयमेव नम्र होते हैं।।(2)

जब मानव स्व-पर का मूल्यांकन निस्पक्ष से सही करते हैं।
स्वयं को यदि जिससे कम पाते उनका विनय करते हैं।।
यथा गौतम गणधरस्वामी, अंगुलमाल, व रत्नाकर।
स्वयं के दोष व गुरु के गुण जाने (माने) गुरु से बने विनम्र।।(3)

ऐसे विनय ही सही विनय है अन्यथा लौकिकाचार है।
ऐसे विनय से ही शिष्य/(भक्त) गुरु की सेवा भक्ति करते हैं।।
ऐसे विनय से होता भाव पावन समर्पण भाव होता है।
जिससे गुरु की सेवा भक्ति से सातिशयपुण्य पाते हैं।।(4)

जिससे होता है सर्वोदय आत्मविश्वास भी बढ़ता है।
महान् लक्ष्य के सम्पादन हेतु उत्तम विचार भी बढ़ता है।।

गुरु के आशीर्वाद मार्गदर्शन में शिष्य भी आगे बढ़ते हैं।
स्व-पर-विश्वकल्याण करके इहपरलोक सुखी होते हैं।।(5)

प्रज्वलीत-दीपक से यथा बुझे हुए दीपक जलते हैं।
तथाहि महान्-गुरु से योग्य-शिष्य भी महान् बनते हैं।।
गुरु होते हैं तरणतारण ब्रह्मा-विष्णु व महेश्वर।
ऐसे गुरुत्व को पाने हेतु 'कनक' सदा तत्पर।।(6)

ध्यानी मुनि हेतु परम कर्त्तव्य-आत्मध्यानी मुनि ही यथार्थ से धर्मध्यानी

(चतुर्थ गुणस्थानवर्ती-श्रावक व छट्ठा गुणस्थानवर्ती मुनि भी उपचार से धर्मध्यानी)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः भातुकली....आत्मशक्ति....)

आत्मध्यानी मुनि होते हैं धर्मध्यानी, जो राग-द्वेष-मोह से रहित हैं।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश रहित, जो होते ख्याति-पूजा-लाभ रहित।।

गाथा-मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।।(371) भाव संग्रह

उत्तम क्षमादि-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-सहित/(परिणत)
आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य परिणत मुनि होते हैं धर्मध्यान युक्त।।(1)

गाथा-दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति।।(372)

वस्तु स्वभाव धर्म होने से तथा, सभी वस्तुओं में स्व आत्मा मुख्य।।
अतएव स्वशुद्धात्मा ध्यान रत मुनि, होते यथार्थ से धर्मध्यान युक्त।।
ऐसे ध्यानी मुनि को होता है, निरालम्बध्यान जो आत्मा के आश्रित।
स्व-आत्मा में/(से) स्व-आत्मा द्वारा, स्व-आत्मा का होता ध्यान है।।(2)

गाथा-जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमाय गुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरुवस्स।।(381)
संकल्प-विकल्प सहित मुनियों को भी, नहीं होता है यह धर्मध्यान।
इस ध्यान के साधन हेतु, व्रत-नियम-भावना-चिंतन-ज्ञान।।
गाथा-जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाण जुत्तस्स।
ताम ण सुण्णझाणं चिंता वा भावणा अहवा।।(83) आ.सा.
ऐसे ध्यानी मुनि होते हैं श्रेष्ठ जो नहीं करते संकल्प-विकल्प।
श्रावक से ले छट्टे गुणस्थानवर्ती मुनि से भी वे होते श्रेष्ठ-ज्येष्ठ।।(3)
अट्ठाबीस मूलगुण पालन रत जो, मुनि अभी नहीं है ध्यानरत।
उनसे भी अधिक श्रेष्ठ-ज्येष्ठ हैं, जो स्व-शुद्धात्म ध्यान रत।।
पंचपरमेष्ठीओं के वन्दन पूजन, आराधना जाप से भी (यह) ध्यान श्रेष्ठ।
वन्दन आदि स्वालम्बन ध्यान है जो निरालम्ब ध्यान हेतु निमित्त।।(4)
गाथा-मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए।।(48) द्र.सं.
जंकिंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धू णय एयत्तं तदा हुतं तस्स णिच्छयं झाणं।।(55 द्र.सं.)
मा चिट्ठह मा जंपह-मा चिंतह किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पाम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।।(56.द्र.सं)
इससे मुझे श्रेष्ठ शिक्षा मिले, मैं करुँ सदा सर्वश्रेष्ठ साधना।
संकल्प-विकल्प व संक्लेश जनक, त्यागूँ मैं समस्त विडम्बना।।(5)
जिस भी कारण से राग-द्वेष-मोह, ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा होते उत्पन्न।
उन सभी कारणों को त्यागूँ जिससे/(में) होती ख्याति-पूजा-लाभ भावना।
(तमन्ना) यह सब मैंने जैन-हिन्दू-बौद्ध-ग्रन्थों में, पढ़ा तथाहि आधुनिक विज्ञान में।
बालकाल से मेरा यह अनुभव बढ़ रहा, 'कनक' अतः दृढ़ स्व-लक्ष्य में।।(6)

निस्पृह सन्त की साधना V/s मोही सन्त की प्रभावना

(अनन्त तीर्थंकर आदि साधु अवस्था में भौतिक निर्माण क्यों नहीं करते?)

(चाल:आत्मशक्ति...)

अभी तक हो गये अनन्त तीर्थंकर-गणधर-आचार्य-पाठक साधु।
गौतम बुद्ध व वैदिक ऋषि ईसा व रामकृष्ण से कृष्णमूर्ति।।
गृहस्थ अवस्था में इनमें अधिकतर थे राजा से लेकर साहुकार तक।
गृहस्थ अवस्था के समस्त वैभव त्यागकर बन गये वे निस्पृह संत।।(1)

गृहस्था अवस्था में भले वे निर्माण किये हो मन्दिर व धर्मशालादि।
किन्तु साधु बनने के अनन्तर नहीं बनाये क्यों मन्दिर धर्मशालादि?।।
वे तो थे अधिक दयालु परोपकारी साधु बनने से और अधिक।
तथापि क्यों नहीं किया भौतिक निर्माण इसका समाधान है निम्नोक्त।।(2)

गृहस्थ में नही थे पूर्ण त्यागी किन्तु पूर्ण त्याग से बने सन्यासी।
त्यागे हुए को नहीं ग्रहण करते जो यथार्थ से होते निस्पृह सन्यासी।
भौतिक त्याग सह होता राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि विभाव त्याग।
ख्याति-पूजा-लाभ व याचना-संग्रह, दबाव-प्रलोभन व संक्लेश-द्वन्द्व।।(3)

आरम्भ-परिग्रह व आदेश निर्देश आकर्षण-विकषर्णमय भौतिक काम।
भौतिक विनिमय रूप समस्त काम नौकर से यान-वाहन काम।।
इन सब से होती द्रव्य-भाव हिंसा तथाहि विविध प्रदूषण।
जिससे न होती आत्मविशुद्धि समता-शान्ति से ध्यान-अध्ययन।।(4)

इन सब कारणों से वे न रहेंगे सही साधु हो जायेंगे वे गृहस्थ सम।
इससे उनका होगा आत्मपतन वे न रहेंगे गृहस्थ व साधु-श्रमण।।
ऐसी अवस्था में वे हो जायेंगे भ्रष्ट त्रिशंकु समान होगी अवस्था।
माया मिली न राम अनुसार इह पर लोक में भारी दुर्दशा।।(5)

ऐसे जो होते निस्पृह साधक उनके अनुयायी ही बनते अधिक।
वे स्वेच्छा से प्रेरित होकर करते दान-दया-सेवा-परोपकार त्याग।।
इससे विपरीत जो काम करते उनसे न होता स्व-पर-उपकार।
वे स्वयं संक्लेशित होते उनको मिलता अपमान से कारागार।।(6)

किन्तु जो होते रागी-द्वेषी-मोही स्वार्थी (स्वार्थी) वे ये सभी करते रहते।
'लोभी गुरु लालची चेला' हुए नरक में ठेलमठेला रूप से दुःख सहते।।
श्रद्धा-प्रज्ञा व निस्वार्थी जन ऐसे साधु से दूर रहते।
अन्धश्रद्धालु व स्वार्थी जन ऐसे साधु से स्व-स्वार्थ साधते।।(7)

ऐसे साधु व अनुयायी से परम पावन धर्म होता है कलंकित।
इसलिए तो 'सूरी कनकनन्दी' ऐसे कार्यों में रहते विरक्त।।(8)

भाषा व द्रव्य-भावात्मक अन्धेरे की समालोचनात्मक कविता-

अंधेरा (भौतिक व भावात्मक) की आत्मकथा

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः1.पूछ मेरा क्या नाम रे!.... 2.जिया बेकरार है....)

अन्धेरा मेरा नाम है, अन्धत्व करना काम है...
दृश्यमान भी नहीं दिखता, ऐसा मेरा काम है...
मेरे प्रमुख दो भेद है, भौतिक व भावात्मक...
भौतिक होता जड़/(पुद्गल) मय, भावात्मक जीवमय/(चेतनामय)...(1)

भौतिक के भी अनेक नाम, अन्धकार, तिमिर, अन्धेरा है...
तमिस्र, ध्वान्त, तमस्, तम, सन्तमस, अन्धियारा नाम है...
भावात्मक मेरे अधिक नाम, मोहान्ध, कामान्ध, स्वार्थान्ध है...
क्रोधान्ध, मदान्ध, लोभान्ध, मायान्ध, ईर्ष्यान्ध, द्वेषान्ध है...(2)

भौतिक रूप में मैं चक्षुष्मान को भी देखने में बाधा डालता हूँ...
जिससे वे खुले आँख से भी, सम्मुख/(पास) की वस्तुओं को भी न देखते हैं,
मेरी उपस्थिति में निद्रा आती, शारीरिक क्रियाएँ भी मन्द होती...
यातायात से ले लिखना-पढ़ना, इत्यादि काम भी न सही होते...(3)

एकाग्रचित्त ध्यान से लौकिक से आध्यात्मिक उपलब्धि

(शोध-बोध-खोज-शुद्ध-बुद्ध-आनन्द हेतु एकाग्रचित्त ध्यान प्रमुख कारण।)

(चालः1.तुम दिल की....2.आत्मशक्ति...3.क्या मिलिए...4.भातुकली...)

कितनी महान् कितनी पावन है **आध्यात्मिक** संस्कृति।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागकर **आत्मलीनता** की प्रवृत्ति।।

इस हेतु त्यागते चक्रवर्ती तक समस्त राज्य वैभव।
अन्तरंग परिग्रह के साथ-साथ बहिरंग राज्य वैभव।।(1)
ख्याति-पूजा-लाभ त्यागकर, करते एकान्त मौन साधना।
निस्पृह-निराडम्बर-वर्चस्व त्यागकर, करते आत्मा की साधना।।
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध व मान-माया को त्यागकर।
करते आत्मा का शोध-बोध ईर्ष्या-तृष्णा को त्यागकर।।(2)
संकीर्ण पंथ-मत-जाति परम्परा, भेदभाव को त्यागकर।
समता-शान्ति-शुचिता सह बनते सहिष्णु उदार।।
शत्रु-मित्र-भाई-बन्धु परे सोचते, स्व-पर विश्व कल्याण।
मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ सहित करते पावन आचरण।।(3)
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यागकर करते तत्त्वचिंतन।
परनिन्दा-अपमान वैरत्व त्यागकर करते शुद्धात्मा ध्यान।।
इससे मनकी चंचलता घटती, जिससे होता मनस्थिर।
जिससे तनाव-डिप्रेशन घटे, आधि-व्याधि भी होते दूर।।(4)
संतुष्टी-तृप्ति-ऊर्जा बढ़ती, मेधा शक्ति होती प्रबल।
स्मरण-विश्लेषण-संश्लेषण बढे, क्षयोपशम भी होता प्रबल।।
नवीन-नवीन श्रद्धा-प्रज्ञा, स्वयमेव बढ़ती जाती।
आत्मविशुद्धि से आत्मलीनता बढे, आत्मिक शक्ति बढ़ती।।(5)
घाती नाश से अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को पाते।
अघाती क्षय से शुद्ध-बुद्ध होकर अनन्त वैभव भोगते।।
इससे ये शिक्षायें मिलती, ज्ञान-सुख-वीर्यादि पाने हेतु।
एकाग्रचित्त होना अनिवार्य है, अन्य सभी सहयोगी हेतु।।(6)
प्रिज्म के माध्यम से सूर्यरश्मि यथा, केन्द्रिभूत शक्ति जाग्रत होती।।
एकाग्रचित्त ध्यान से यदि, अनन्त वैभव प्राप्त होते।
उस ध्यान से भौतिक लाभ तो, अति सुलभता से मिलते।।(7)
समस्त वैज्ञानिक शोध-बोध में, एकाग्रता ही प्रमुख कारण।
संगीत-कला-काव्य रचना, पढ़ाई आदि में मुख्य कारण।।

तन-मन-स्वस्थ्य-सबल हेतु भी, एकाग्रमन मुख्य कारण।
ऐसी महान् संस्कृति के कारण, 'कनकनन्दी' बना श्रमण।।(8)

स्व-शक्ति के ध्यान से अनंत शक्ति पाऊँ

-आचार्य कनकनंदी

(चालः1.मन रे! तू काहे न धीर धरे....,2.सायोनारा...)

जिया रे! स्व-शक्तियों का ध्यान करऽऽ
जिससे शक्तियाँ होगी जागृत...होंगे तेरे लक्ष्य पूर्णऽऽ...(ध्रुव)...

तेरे अंदर है (भगवत्)/अनंत शक्तियाँ...जो चैतन्य चमत्कार पूर्ण ऽऽऽ
इन शक्तियों को प्राप्त करने से...बनोगे सच्चिदानंद पूर्णऽऽऽ
त्रैलोक्य अधिपति संपूर्णऽऽऽ...जिया...(1)

न तू दीन-हीन व कायर...न तू तन-मन-इंद्रियऽऽऽ
न तू मानव-पशु-पक्षी-दानव...नहीं तेरे जन्म-जरा-मरणऽऽऽ
ये सभी विभाव परिणमनऽऽऽ...जिया...(2)

समस्त बंधन व सीमा से परे...अनंतानंत अविभागी प्रतिच्छेद पूरेऽऽऽ
लोकालोक व्यापी ज्ञान से पूरे...तुमसे बड़ा न कोई विश्व मेंऽऽऽ
अनंत गुणगण समूह तुझमेंऽऽऽ...जिया...(3)

जाति-मत-पंथ सीमा परे...भाषा-राष्ट्र धनी गरीब परेऽऽऽ
ऊँच-नीच काला-गोरा परे...समस्त भौतिक-लौकिक परेऽऽऽ
अद्वितीय कल्पना परेऽऽऽ...जिया...(4)

स्वतंत्र-स्वावलंबी-मौलिक तू हो...स्वयंभू-स्वयंपूर्ण-शाश्वत् होऽऽऽ
आत्मजयी तू विश्वजयी हो...निरंजन-निर्विकार-शुद्ध-बुद्ध होऽऽऽ
अमूर्तिक चैतन्य अखण्ड पिंड होऽऽऽ...जिया...(5)

समस्त राग-द्वेष-मोह परे हो...संकल्प-विकल्प-संक्लेश शून्य होऽऽऽ
अक्षय-अव्यय-ध्रौव्य रूप हो...परम सत्य तू भगवान् होऽऽऽ
'कनक' तेरा नहीं नाम-रूप रे!ऽऽऽ...जिया...(6)

आकिंचन्य से त्रैलोक्याधीपति बनूँ

(मेरी बाह्य विरक्ति-निस्पृहता त्याग वृत्ति का कारण)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः 1.आत्मशक्ति...2.क्या मिलिए...)

आकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः
योगिगम्यं तव प्रोक्त रहस्यं परमात्मनः।।(110 आत्मानु.)

त्रैलोक्याधिपति बनने हेतु बन रहा हूँ मैं आकिंचन्य।
यह है त्रैलोक्याधिपति के दिव्य वचन।।
स्व आत्म तत्त्व अतिरिक्त सभी कर रहा हूँ विसर्जन।
जिससे मोक्ष प्राप्ति से मैं बनूँ भगवान्।।(1)

निश्चय से मैं हूँ जीवद्रव्य अनन्त गुणवान्।
द्रव्य भावनोकर्म से बना हूँ मैं दीन हीन।।
सर्व कर्म नाश से मैं बनूँगा आकिंचन्य।
स्व शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य मेरा न किंचन्य।।(2)

तब ही मैं बनूँगा शुद्ध बुद्ध व आनन्द।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अव्याबाधत्व सम्पन्न।।
मेरा ही मैं कर्त्ता-धर्त्ता-विधाता-भोक्ता बनूँगा।
अन्य का न मैं स्वामी न मेरा कोई स्वामी रहेगा।।(3)

यह ही मेरा परम लक्ष्य-साध्य-साधन व प्राप्य/(लक्ष्य)
इस हेतु ही मेरी सभी हो रही साधना सतत।।
(अतएव पराश्रित न रहूँ न अन्य को करूँ आश्रित)
अतएव अन्य को न करूँ आधीन मैं भी रहूँ स्वाधीन।
सचित्त अचित्त मिश्र या धनजन मान व सम्मान।।(4)

इस हेतु त्याग कर रहा हूँ रागद्वेष मोह बंधन/(पराधीन)।
ईर्ष्यातृष्णा घृणा काम क्रोध मदबंधन।।
परनिन्दा चिन्ता व प्रतिस्पर्द्धा अन्धानुकरण।

अन्य क्या करते सोचते कहते आदि का बंधन।। (5)
तथाहि ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व बन्धन।
बाह्य आडम्बर दिखावा ढोंग व पाखण्ड।।
संकीर्ण पंथ मत जाति भाषा रूढ़ि परम्परा बन्धन।
कट्टर क्रूर अनुदार असहिष्णु बन्धन खण्डन।।(6)
उदार पावन समता व स्वाधीन भाव व काम।
निस्पृह निरालम्ब निर्मल आध्यात्मिक निर्द्वन्द्व।।
आत्मविशुद्धि आत्मशक्ति से नाश करूँ कर्मबन्ध।
आकिंचन्य से त्रैलोक्याधीश बनने का यह सम्बन्ध।।(7)
यह है मेरा स्वरूप व मेरा परमलक्ष्य।
सांसारिक वैभव से अनन्तानन्त गुणीत।।
अतएव सांसारिक वैभव से मैं हो रहा हूँ विरक्त।
आत्मोत्थ अनन्त ऐश्वर्य ही 'कनक' का परम लक्ष्य।।(8)

तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि णाणी उ णाणित्तं।।(184)
एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो।।(185)

जिस प्रकार सुवर्ण अग्नि से तपाये जाने पर भी सुवर्णपने को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त हुआ ज्ञानी ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है परंतु अज्ञानी चूँकि अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छादित है अतः आत्मस्वभाव को नहीं जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर क्यों होता है ?

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ।।(186)

शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को पाता है।

संवर किस प्रकार होता है ?

अप्पाणमप्पणा रंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो, इच्छाविरओ य अण्णम्हि।।(187)
जो सव्वसंगमुक्को, झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं, चेदा चिंतेदि एयत्तं।।(188)
अप्पाणं झायंतो, दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।(189)

जो जीव अपने आत्मा को अपने आपके द्वारा शुभ अशुभ रूप दोनों योगों से रोककर दर्शनज्ञान में स्थित हुआ अन्य पदार्थों में इच्छा रहित है तथा समस्त परिग्रह से रहित होता हुआ आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है। कर्म और नोकर्म का ध्यान नहीं करता, किंतु चेतनारूप होकर एकत्व भाव का चिंतन करता है वह आत्मा का ध्यान करने वाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्य वस्तु रूप नहीं होने वाला जीव शीघ्र ही कर्मों से रहित आत्मों को ही प्राप्त करता है।

किस क्रम से संवर होता है

तेसिं हेऊ भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरयभावो य जोगो य।।(190)
हेउ अभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।(191)
कम्मस्साभावेण य, णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेणय,संसारणिरोहणं होइ।।(192)

पूर्व में कहे हुए उन रागद्वेषादि आस्रवों के हेतु सर्वज्ञ देव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग ये चार अध्यवसायभाव कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने के कारण नियम से आस्रव का निरोध होता है, आस्रव भाव के बिना कर्मों का भी निरोध हो जाता है, कर्मो का अभाव होने से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है और नोकर्मो का निरोध होने से संसार का निरोध हो जाता है।

मोक्ष लक्ष्य ही परम लक्ष्य अन्य सभी ही आकांक्षायें

(सांसारिक लाभ हेतु होती है आकांक्षायें (इच्छा, कामना, निदान)

(संसार नाश मोक्ष प्राप्ति हेतु होता लक्ष्य भावना, पुरुषार्थ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः- 1. भातुकली....2. क्या मिलिये....)

मोक्ष लक्ष्य ही परमलक्ष्य है अन्य सभी ही आकांक्षायें।
मोक्ष हेतु जो श्रद्धाप्रज्ञा चर्या है वे भी प्राथमिक लक्ष्य।।(स्थायी)

राजा महाराजा सेठ साहुकार से चक्रवर्त्ती सम्राट से ले इन्द्र तक।
प्राप्त करने की जो होती इच्छायें,वे सभी ही निदान या कामनायें।।(1)

पढ़ाई नौकरी व्यापार राजनीति, शिल्प कला संगीत या कानून।
अर्थ उपार्जन या लौकिक लाभ हेतु, जो कुछ चाहते वे सभी कामनायें।।(2)

धर्म भी यदि करते इस हेतु है तो, वे भी निश्चय से कामनायें।
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व हेतु, जो कुछ धर्म पालते वे कामनायें।।(3)

इसे ही कहते निदान शल्य, जिससे (में) होता निश्चय से मिथ्यात्व।
इसलिये निदान निकृष्ट आर्त्तध्यान जिससे चतुर्थकाल के मुनि भी मिथ्यात्वी।।(4)

यदि कोई मुनि करते हैं निदान,पूजा प्रसिद्धि हेतु बनूँ तीर्थंकर।
इससे वे मुनि मिथ्यात्वी होकर, गुणस्थान पतित से भ्रमे संसार।।(5)

यदि कोई मुनि करते हैं निदान, मोक्ष साधना हेतु मिले उत्तम शरीर।
जिससे आत्म साधना से मोक्ष पाऊँ, इससे गुणस्थान/(साधुत्व) न होगा पतित।।(6)

मोक्ष प्राप्ति हेतु जो होता निदान, वह होता है प्रशस्त निदान।
ख्याति पूजा लाभ/(बोली) हेतु जो होता निदान, वह होता है अप्रशस्त निदान।।(7)

ऋषभदेव ने राज्यावस्था में जो, दिये थे असि आदि षट् कर्म शिक्षा।
वे सभी जीविकार्जन के उपाय, वे नहीं मोक्षमार्ग के उपाय।।(8)

आत्मश्रद्धान ज्ञान चारित्र बिना तथाहि संसार शरीर भोग हेतु।
एक लाख करोड़ों भव तप से न मिले मोक्ष,अन्तर्मुहूर्त में विरागी साधु पाते मोक्ष।। (9)

भोगाकांक्षा निदान युक्त आकांक्षा है, इससे परे मोक्ष हेतु है लक्ष्य।
आकांक्षा को अधिकतर जन मानते लक्ष्य,लक्ष्य विहीन लौकिक स्वार्थी लोक।।(10)
आहार भय मैथुन परिग्रह हेतु,जो इच्छा से ले काम है संज्ञा।
ऐसी संज्ञा तो होती निगोद से ले, एकेन्द्रिय व पशु पक्षी कृति तक।। (11)
ऐसी संज्ञा से वशीभूत हो जीव, करते नानाविध कुभाव व काम।
पंच पाप सप्त व्यसन व अष्टमद,अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार काम।। (12)
इच्छा निरोध को तप कहा है, इच्छा ही दुःख के हेतु कहा है बुद्ध।
निष्काम कर्म योग कृष्ण ने कहा, लोभ पाप का बाप भी कहा ।।(13)
ऐसे महान् अन्तर या विपरीत को,न जानते मानते मोही स्वार्थी।
शिक्षा राजनीति व्यापार ही क्या ? धर्म में (से) भी बनते महत्वाकांक्षी।।(14)
अधिकतर आकांक्षा सह होते स्वार्थी,इसे ही मानते लक्ष्य परमार्थी।
यह ही (मिथ्या) मोह माया संसार चक्र है, इससे परे मुमुक्षु ''कनकनन्दी''।।(15)
नन्दौड़,दि. 26.10.2019 रात्रि, 8.25 (स्वरूप चौदस)

संदर्भ-

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजां
यत्तद्भोगार्त्तमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं।। (34) ज्ञानार्णव

अर्थ-धरणीन्द्र के सेवने योग्य जो भोग, और तीन भुवन को जीतने वाली रूप साम्राज्य की लक्ष्मी, तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओं के समूह जिसमें ऐसा राज्य, और देवांगनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली स्त्री, इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुएँ मेरे कैसे हो, इस प्रकार के चिंतवन को परम गुणों को धारण करने वालों ने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है। यह ध्यान संसार की परिपाटी से हुआ है और संसार का मूल कारण भी है।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामरणां।
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।

पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम।। (35)

जो प्राणी पुण्याचरण के समूह से तीर्थंकर के अथवा देवों के पद की वांछा करे, अथवा उन ही पुण्याचरणों से अत्यन्त कोप के कारण शत्रु समूह रूपी वृक्षों के उच्छेदने की वांछा करे तथा उन विकल्पों से अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभादिक की याचना करे, उसको निन्दाजनित आर्त्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान भी जीवों को दुःखरूपी अग्निका तीव्र स्थान है।

इष्टभोगादिसिद्धयर्थं रिपुघातार्थमेव वा।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकं।। (36)

अर्थ-मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिये तथा शत्रु के घात के लिये जो निदान हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है।

निदान आर्त्तध्यान (सबसे निकृष्ट अशुभ/पाप/कुधर्म)

(सांसारिक कामना (धन-नाम भोगादि) से धर्म करना निदान

(चाल : आत्मशक्ति....)

धर्म की आराधना से सांसारिक इच्छा निदान,
श्रावक से साधु तक यदि होता है निदान।
तत्काल वे हो जाते हैं अधार्मिक निदान,
गुणस्थान च्युति से संभव है मिथ्या-गुणस्थान।। (1)
अतएव हर धर्म कर्म निष्काम भाव से करणीय।
सांसारिक उपलब्धि हेतु कामना न करणीय।
तपत्याग दान पूजाव्रत के फल स्वरूप,
यदि सांसारिक लाभ हेतु है वे सभी अधर्म।।(2)
धर्म होता है मोक्ष की उपलब्धि हेतु,
भले आनुसंगिक रूप से सांसारिक सुख हेतु।
किन्तु सांसारिक सुख हेतु जो करते हैं धर्म,

वे यथार्थ से धर्म न करते वे माँगते हैं भीख।। (3)
भीख माँगने से यदि न मिले चक्री-इन्द्रपद,
तब कैसे भीख से मिले त्रैलोकी नाथपद।
निदान से तो शुभभाव भी होता है अशुभ,
अशुभ से सातिशय पुण्य न मिले, मिले पापानुबन्धी पुण्य।। (4)
इससे जीव बनते हैं भूत राक्षस आदि देव,
कंस आदि के समान क्रूर दुष्ट मानव।
जिस धर्म की साधना से मिलता मोक्ष तक,
उसी साधना से रावण को मिला नरक तक।। (5)
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व हेतु जो धर्म,
धनजन संग्रह हेतु होते जो धार्मिक आयोजन।
विधान पंचकल्याणक चातुर्मास प्रवचन।
याचना चंदा बोली दबाव आदि निदान।।(6)
इस हेतु श्रावकों को दान देना है विधेय,
न्यायोपात्त धन का एकचतुर्थांश से दशमांश।
तनमन समय श्रम व नवकोटि से दानदेय,
निदान रहित धर्म से, मिले स्वर्ग से ले मोक्ष।।(7)
प्रसिद्धि हेतु तीर्थंकर बनने की इच्छा होता अप्रशस्तनिदान।
मोक्ष प्राप्ति हेतु उत्तम शरीर की इच्छा होता प्रशस्त निदान।
जब तक रहती इच्छा मोक्षप्राप्ति की तब तक नहीं मिलता मोक्ष।
इच्छानिरोध तप होता है जहाँ इच्छा वहाँ निदान।।(8)
कर्त्तावादी या अकर्त्तावादी जो भी करते हैं निदान,
वे सभी एक समान क्योंकि दोनों के मिथ्यात्वगुणस्थान।
केवल आत्मविशुद्धि से जो करते हैं धर्म कर्म,
वे इहपरलोक सुख अन्त में पाते निर्वाण।।(9)

सुधर्म V/s कुधर्म
यथार्थ धर्म V/s धर्माभास

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1.छोटी-छोटी गैया...2.यमुना किनारे....)

चैतन्य चमत्कार आत्म स्वभाव, अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य।
अन्य सभी चमत्कार विभाव रूप, उस की आसक्ति से होता पतन।। (1)

आत्मवैभव है अक्षय अनन्त, आत्मा से उत्पन्न व आत्म आश्रित।
अन्यवैभव होता सादि सान्त, इस से जीव होते अशान्त।। (2)

सच्चिदानन्द है जीव स्वरूप, सत्य शिव सुन्दर सहजानन्द।
इस से विपरीत संसार सुख, दुःख उत्पादक व बाधाकारक।। (3)

सिद्धि स्वात्मोपलब्धि आत्मस्वरूप, कृतकृत्यपना व पावन रूप।
प्रसिद्धि होती इससे विपरीत, ख्यातिपूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्व।। (4)

'सोऽहं' भाव ही 'अहंभाव' (महत्वपूर्ण) आत्मगौरव, 'सोऽहं' साधना से 'अहं' (शुद्धात्मा) बने भव्य।
इससे विपरीत 'अहंकार' 'ममकार' इस से जीवों का बढ़ जाता संसार।। (5)

आत्मविकास ही परम विकास, इस से जीव बने अरिहंत सिद्ध।
भौतिक विकास परिग्रह समूह, बहुआरंभ परिग्रह से नरकवास।। (6)

रत्नत्रय तेज से प्रभावना आत्मा की, दान पूजा से ले ज्ञान ध्यान की।
इस से भिन्न प्रभावना भीड़ बोली की, वह भावना 'अहंकार' 'ममकार' की।। (7)

जो धरती उत्तम सुखे सो होता धर्म, समता-शान्ति-निस्पृहता क्षमादि धर्म।
इस से विपरीत होता अधर्म, विषमता अशान्तिपरिग्रहादि अधर्म।। (8)

धन जन मान सम्मान वर्चस्व, भोगोपभोग व शत्रु विनाश निमित्त।
जो करते धर्म वह निदान कुध्यान (कुधर्म), मिथ्यात्व कारक व संसार निमित्त।। (9)

शुद्ध-बुद्ध आनन्द परम धर्म, वस्तु स्वभाव मय शुद्ध चेतना धर्म।
इस निमित्त धर्म अन्यथा कुधर्म, 'सूरी कनक' का लक्ष्य स्वआत्म धर्म।। (10)

ग.पु. कॉ. 24/06/2020 मध्याह्न-12.56